गीता : मेरी दृष्टि में

(श्रीमद् भगवद् गीता का भावानुवाद)



पं. अमरनाथ त्यागी

॥ श्री राधाकृष्णाभ्यां नमः ॥

गीता : मेरी दृष्टि में

•

मूर्धन्य मानस मर्मज्ञ

पं. अमरनाथ त्यागी

छत्तीसगढ़ हिन्दी साहित्य मंडल, रायपुर

प्रगति प्रकाशन

चौबे कालोनी, रायपुर 492001

मो.-094242-33033

इंजी. अमरनाथ त्यागी 'मानस मर्मज्ञ'
27/406, पुरानी बस्ती, बनियापारा
गोपाल मंदिर के निकट, रायपुर (छ.ग.)

प्रकाशक	-:	प्रगति प्रकाशन
मुद्रक	-:	साईं वैभव प्रिंटर्स , रायपुर
वितरक	-:	वैभव प्रकाशन, अमीनपारा चौक, रायपुर
संस्करण	-:	2011
मूल्य	-:	50 रुपए (पचास रुपए)
शब्द संयोजन	-:	श्रीमती रेखा सोनकर, रायपुर
आवरण	-:	राजेश कुमार श्रीवास्तव, रायपुर

भूमिका
(प्रो. बालचंद्र कछवाहा)

वंदे श्रीकृष्ण देवं मुरनकभिदं वेदवेदांतवेद्यं ।
लोके भक्ति प्रसिद्धं यदकुलजलधौ प्रादुरसीदपारे।
यस्यासीव रूप में त्रिभुवनतरणे भक्तिवच्चस्वतंत्र।
शास्त्रं लोकंच रूपे प्रकटयनि मुदा यः स नो भूति हेतुः।

भगवान श्री कृष्ण के मुख-सरोज से प्रकट हुई श्रीमद्भगवदगीता, सहस्त्र-सहस्त्र वर्षों से भारतीय समाज को धर्म-पथ पर चलने की प्रेरणा और उपदेश दे रही है। वेद, उपनिषद और नाना पुराणों तथा ब्रह्मसूत्र से धर्म और दर्शन विषयक जिन महान् विचारों और सिद्धांतों को उद्घोष हुए हैं; उन सभी का समाहार गीता में हुआ है। अतः यह उक्ति सटीक है कि -

भारतामृत सर्वस्व गीतायामथितस्य च।
सारमुधृत्यकृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम्।

भारती-युद्ध के प्रारंभ में पूर्व युद्ध की आकांक्षा को एकत्र उभय सेनाओं में भीषण, द्रोण, कृप और अन्यान्य बंधु-बांधुवो को देखकर अर्जुन की बुद्धि भ्रमित हो जाती है। धर्म और अधर्म, कर्तव्य और अकर्तव्य, युद्ध और शांति के विषय में विभ्रांत और शोक-संतप्त मनवाला अर्जुन- ने योत्याइतिगोविंदमुक्त्वा तुष्णीं बभूवह। ऐसे विषण्ण, शोक-संविग्न-मानस-अर्जुन को भगवान श्री कृष्ण स्वधर्म-पालन के लिये उपदेश देते हैं। भगवान श्री कृष्ण अर्जुन को अमृत-वाणी से समझाते हैं कि विश्व-ब्रह्मांड में सृजन, संसृति और संहार का जो अनवरत क्रम चलता रहता है, वह सब ईश्वर की इच्छा और लीला है। मनुष्य तो निमित्त मात्र है। वह तो परमेश्वर की इच्छा के अनुरूप क्रिया करने के लिए विवश है। अतः व्यक्ति कर्ता नहीं है, जिस पर वह अभिमान करे। पुनश्च आत्मा तो अविनाशी है। नाश तो शरीर का होता

है, उसके लिए शोक का कोई कारण नहीं-। पंडित जन जो मर गये हैं उनके लिए और जो जीवित हैं उनके लिए भी शोच नहीं करते।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे
गतासूनगताबून्श्च नानुशोचंति पंडिता:।
यही तो है असार संसार, सृजन, संसृति संहार।

अर्जुन के माध्यम से विश्व को उपदेश देती हुई गीता कहती है कि ज्ञान, भक्ति, कर्म और वैराग्य से ईश्वरोपलब्धि ही मानव-जीवन का आत्यंतिक-प्रयोजन है, परन्तु ज्ञान और कर्म की अपेक्षा भक्ति मार्ग अधिक सरल हैं। अत: मनुष्यों को भगवान की शरण में रहकर भक्ति भावित जीवन का अभ्यासी होना चाहिये। संसार से भागकर नहीं संसार में रहते हुए सभी निहित कर्तव्यों को ईश्वरार्पण करते हुए करना ही सच्चा सन्यास है एवं शरणागति और प्रपत्ति ही सर्वोत्तम योग है। भगवान श्री कृष्ण से उपदेशिता अर्जुन का मोह भंग हो जाता है और वे अपने कर्तव्य में आरुढ़ होने को तत्पर हो जाते हैं-

स्थितोऽस्मि गतसंदेह: करिष्ये वचनं तव:।

गीता का विषय जितना गंभीर, उदात्त तथा कल्याणप्रद है, उसकी भाषा भी उतनी ही मनोज्ञ, कलापूर्ण, मधुर, प्रसादिक, सरस और बोधगम्य है। गीता की लोकप्रियता इससे सिद्ध होती है कि भारतीय शास्त्रों से भी अधिक प्रभाव गीता का है। भगवान आदि शंकराचार्य ने अ[illegible] लिखा है कि अनेक कवियों और साहित्यकारों ने गीता का अपना-अपनी मातृभाषा में काव्यानुवाद भी किया है। इसी परंपरा में श्री अमरनाथ त्यागी जी ने भी गीता का अति सुन्दर और सरस तथा कलापूर्ण भावानुवाद किया है। आशा है कि विद्वद्जन श्री त्यागी के भावांतर का स्वागत करेंगे।

सर्व तीर्थमयी गंगा, सर्वदेवमयो हरि:।
सर्व शास्त्रमयी गीता, सर्वधर्म मयो मनु:।

मोक्ष अथवा भक्ति के आकांक्षी साधकों को अन्य शास्त्रों के विस्तार से कोई प्रयोजन नहीं होता। एकांकिनी गीता, मनुष्य को इस लोक और उस लोक में कृतार्थ कर सकती है। यह जो जीव है– हंस है, वह ब्रह्म में जन्म–जन्मान्तर तक घूमता रहता है–

सर्वे जीवो सर्वसंस्थे वृहंते।
अस्मिन हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।।

इस काल–चक्र से, जन्म–मरण के फेरे से श्री कृष्ण अपने शरणागत भक्तों को क्षणार्ध में मुक्त कर देते हैं।

तेषामऽहं समुद्धर्ता मृत्यु संसार सागरात्।
भवामि न चिरात्यार्थ मय्यावेशित चेतसाम्।।

गीता अर्जुन के विषाद–योग को भक्ति योग में रुपान्तरित कर देती है क्योंकि अर्जुन संपूर्णतः उनकी शरण में चला जाता है। श्री कृष्ण की प्रतिज्ञा भी है ये यथा मां प्रपद्यंते तारं–तदैव भजाम्यहम्, श्रीकृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं–

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयितयामि मा शुचः।

श्री कृष्ण अर्जुन के रथ के ही नहीं उनके आध्यात्मिक जीवन के भी सारथी हैं। जहां श्री कृष्ण हैं, वहीं धर्म है और जहाँ धर्म है वहीं श्री कृष्ण। यतो कृष्णः ततो धर्मः। यतो धर्मः ततो कृष्णः। अतः जहाँ श्री कृष्ण और अर्जुन हैं वहीं श्री, विजय और कल्याण है। ऐसा संजय का अभिमत है। क्या हम भी श्री कृष्ण को अपने जीवन रथ का सारथी बनायेंगे।

उच्च कोटि के स्वच्छंदतावादी कवि, चिंतक एवं समाज सेवक श्री अमरनाथ त्यागी छत्तीसगढ़ की अन्यतम साहित्यिक विभूति हैं। धर्म और संस्कृति के साथ अपरिमेय पांडित्य तथा विनय और शील श्री त्यागी के

व्यक्तित्व के अलंकार है। श्री त्यागी प्राचीन भारतीय वाङ्मय और विशेषकर भक्ति-साहित्य के रसिक अध्येता हैं। वे धर्म, संस्कृति, नीति, पुरातत्व एवं ऐतिहासिक विषयों पर अनवरत लेखनी चला रहे हैं। पारंपरिक भारतीय संस्कृति को नवीन प्रगतिशील विचारों की पृष्ठभूमि में नूतन-प्राण-शक्ति देकर वे पुनर्परिभाषित करने की कला में दक्ष हैं। गीता, महाभारत , पद्मपुराण, स्कंदपुराण और श्रीमद्भागवत में व्याप्त श्रीकृष्ण की लीला को उन्होंने अपनी रचनाधर्मिता और नवीन काव्य-कल्पना से सज्जित कर 'श्रीकृष्ण-चरित मानस' छत्तीसगढ़ की रामायण नामधेय महाकाव्योचित गरिमा से अभिषिक्त महाकाव्य भी लिखे हैं ये यह ग्रंथ भक्ति और वैराग्य का उद्दीपक एवं भगवान श्री राम-कृष्ण के धर्म-संस्थापक-स्वरूप को माधुर्य के साथ प्रस्तुत करने वाले काव्य है।

श्री त्यागी विरचित श्रीमद् भागवद् गीता का काव्यानुवाद एक सुन्दर-सुघड़ प्रयास है। मुख्यत: अनुष्टुप छंद में प्रणीत भगवद्गीता की भाषा अत्यन्त ओजपूर्ण, मधुर ललित और कमनीय है।

आलंकारिक, कलात्मक-पूर्णता से भूषित-मनोज्ञ और बुधजन आल्हादव्य है। उदात्त, प्रांजल, मधुर, प्रासादिक, रसपूर्ण और उल्लासदीप्त गीता का अनुवाद अत्यंत दुष्कर और श्रमसाध्य है। वैसे भी किसी 'विश्व-विश्रुत-महान काव्य कृति' के किसी अन्य भाषा में भाषान्तरण में जोखिम तो रहता ही है। फिर गीता में व्यवहृत 'संस्कृत' में जो अमृतघुला हुआ है। उसे अनुवाद में वैसा ही उद्देश्य रखना असंभव है। पुनश्च 'श्रीमद् भागवद्गीता' तो ब्रह्मविद्या का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है। अध्यात्म-विद्या सभी विद्याओं में श्रेष्ठ है। 'अध्यात्म विद्या विद्यानां' इस योग-शास्त्र में भगवान् श्री कृष्ण ने-ज्ञान, कर्म, भक्ति, वैराग्य के साथ दैवी-गुणों का अद्भुत समाहार करते हुए, धर्म संस्थापन को महान कार्य किया है जो उनके ईश्वरत्व-समलंकृत गीता के प्रतिपाद्य-विषय को 'अनुवाद' में सजीव और प्रभुविष्णु भी रखना बहुत कठिन है। तथापि श्री अमरनाथ त्यागी ने भगवद् कृपा

से ही अत्यंत नम्रतापूर्वक गीता को भावानुवाद किया है। इस महान कार्य की प्रेरणा भी उन्हें श्रीकृष्ण से ही मिली है। अतः भगवद् प्रीत्यर्थ संपादित इस भाषान्तरण का विद्वान अवश्य स्वागत करेंगे ऐसा विश्वास है।

प्रो. बालचंद्र कछवाहा
पूर्व अध्यक्ष,
पं. सुन्दरलाल शर्मा साहित्य शोध पीठ, रायपुर (छ.ग.)

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम्

गीताशास्त्रमिंद पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान ।
विष्णोः पदमवाप्रोति भयशोकादिवर्जितः ॥ 1 ॥

गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च ।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि ॥ 2 ॥

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥ 3 ॥

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिः सृतम् ॥ 4 ॥

भारतामृतसर्वस्वं विष्णोक्त्राद्विनिः सृतम् ।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥ 5 ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीभोक्ताः दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ 6 ॥
एकं शास्त्रं देवकी पुत्र गीता मेको देवो देवकीपुत्र एवं ।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥

गीता मेरी दृष्टि में

प्रधान विषयों की अनुक्रमणिका

आत्म संयम योग-नामक 6 ठा अ.॥

1-4	कर्मयोग का विषय और योगारूढ़ पुरुष के लक्षण।
5-10	आत्म-उद्धार के लिये प्रेरणा और भगवत्प्राप्त पुरुष के लक्षण।
11-32	विस्तार से ध्यान योग का विषय।
33-36	मन के निग्रह का विषय।
37-47	योगभ्रष्ट पुरुष की गति का विषय और ध्यानयोगी की महिमा।

ज्ञानविज्ञानयोग-नामक 7 वाँ अ.॥

1-7	विज्ञान सहित ज्ञान का विषय।
8-12	संपूर्ण पदार्थों में कारण रूप से भगवान की व्यापकता का कथन।
13-19	आसुरी स्वभाव वालों की निंदा और भगवद्भक्तों की प्रशंसा।
20-23	अन्य देवताओं की उपासना का विषय।
24-30	भगवान के प्रभाव और स्वरूप को न जानने वालों की निंदा और जानने वालों की महिमा।

अक्षर ब्रह्मयोग- नामक 8 वाँ अ.॥

1-7	ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादि के विषय में अर्जुन के 7 प्रश्न और उनका उत्तर।
8-22	भक्तियोग का विषय।
23-28	शुक्ल और कृष्ण मार्ग का विषय।

हरिः ओम तत्सत्

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ।।1।।

संजय उवाच

दृष्टवा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ।। 2 ।।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ।। 3 ।।

अत्र शूरा महेश्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।। 4 ।।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ।।5।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

गीता

प्रथम - अध्याय

(अर्जुन-विषाद योग)

राजा धृतराष्ट्र ने कहा

धर्मक्षेत्र उस कुरूक्षेत्र में, रण हेतु तैयार हुए ।
पांडव और मेरे पुत्रों ने, कहो संजय क्या कर्म किए ।।1।।

संजय ने कहा

सैन्य-रचना पांडवों की, देख वे हतप्रभ हुए ।
और दुर्योधन गुरु को, सैन्य दिखलाने गए ।। 2।।

पांडवों की सैन्य लख, आचार्य अचरज भरे ।
द्रुपद-सैन्य व्यूह रचना से और वे तो हैं ठगे ।। 3।।

भीम अर्जुन से अनेकों, सूरमा रणबांकुरे ।
द्रुपद, सात्यकि, विराट आदि योद्धा धनुर्धारी खड़े ।।4।।

और धृष्टकेतु, वीर काशीराज, चेकितान हैं ।
शैव्य, कुन्तीभोज, पुरुजित, वीर सर्व महान हैं ।।5।।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रोपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ।।6।।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ।। 7।।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ।। 8।।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्र प्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।। 9।।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।। 10।।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।। 11।।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ।। 12।।

ततः शंखांश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।। 13।।

उत्तमौजा, युधामन्यु, महारथी रणवीर हैं ।
सौभद्र, द्रौपदि-पुत्र सारे, विक्रमी वरवीर हैं ।। 6।।

हैं अपने-2 भी कटक के, श्रेष्ठ जो सेनापति ।
द्विजराज अब सुन लीजिए, उनको गिनाता हूं अभी ।।7।।

हैं आप फिर श्रीभीष्म, कृप और कर्ण से रणधीर हैं ।
विकर्ण हैं, भूरिश्रवा, गुरूपुत्र से बलवीर हैं ।। 8।।

रण के लिये साजे हैं बाजे, शूर ऐसे बलभरे ।
तैयार सब मेरे लिए, जीवन हथेली पर धरे ।। 9।।

श्री भीष्म को रक्षा-कवच, पर्याप्त बल से दीजिए ।
हैं भीम रक्षा में उधर, बल तोल उनका लीजिए ।। 10।।

इस हेतु अपने मोरचों पर, वीर पूरा बल धरें ।
सब ओर चारों छोर से, रक्षा पितामह की करें ।। 11।।

नृपति मन को तब पितामह, मोद से भरने लगे ।
सिंह सी फिर गर्जना वे, शंख से करने लगे ।। 12।।

ढोल आनक शंख भेरी, गोमुखे चहुं ओर से ।
युद्ध बाजे एकदम, बजने लगे घनघोर से ।। 13।।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ।। 14 ।।

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंख भीमकर्मा वृकोदरः ।। 15 ।।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।। 16 ।।

काश्यश्च परमेश्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ।। 17 ।।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखांन्दध्मुः पृथक-पृथक् ।। 18 ।।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।। 19 ।।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।। 20 ।।

अर्जुन उवाच

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।। 21 ।।

कृष्ण-अर्जुन श्वेत अश्वों से, सजे रथ पर चढ़े ।
दिव्य शंखों को बजाते, वीर वे आगे बढ़े ।। 14।।

'पांचजन्य' श्रीकृष्ण गुंजित, देवदत्त अर्जुन किए ।
पोण्ड्र नामक शंख को, फिर भीम प्रकम्पित किए ।। 15।।

'अनन्तविजय' शंख फूंका, नृप युधिष्ठिर ने वहां ।
'सुघोष', मणिपुष्पक, नकुल, सहदेव से गुंजित जहां ।। 16।।

विशाल काशीराज धनुर्धारी, शिखंडी वीर भी ।
धृष्टद्युम्न, विराट, सात्यिकी, श्रेष्ठ योद्धा हैं सभी ।। 17।।

सुत-द्रौपदी, सौभद्र, द्रुपद, और बल भरने लगे ।
चहुं ओर से राजन वीर, निज-2 शंख ध्वनि करने लगे ।। 18।।

विदीर्ण कौरव के हृदय को, शब्द वे करते रहे ।
चहुं ओर ध्वनि वे फिर धरा-आकाश में भरते रहे ।। 19।।

दोनों दलों को देख, रण के हेतु जो उद्यत हुये ।
कुछ पल समय के पूर्व, अर्जुन बढ़ गये कपिध्वज लिये ।।20।।

अर्जुन ने कहा

वे श्रीकृष्ण से कहने लगे, रथ को बढ़ा कुछ लीजिये ।
दोनों दलों के बीच अच्युत, रथ, खड़ा कर दीजिये ।।21।।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिनरणसमुद्यमे ।।22।।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ।। 23।।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।।24।।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ।। 25।।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।26।।

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।।27।।

अर्जुन उवाच

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।
दृष्टवेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।।28।।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपयुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।। 29।।

देख लूं मैं उन सभी को, जो चढ़े रणधीर हैं ।
इस युद्ध में माधव ! मुझे, जिन पर चलाने तीर हैं ।। 22 ।।

अब देखना मैं चाहता, रण हेतु जो आए यहां ।
दुर्बुद्धि दुर्योधन का जो, कल्याण फिर चाहें यहां ।। 23 ।।

संजय ने कहा

यूं निद्राजित के सुन वचन, श्रीकृष्ण आगे बढ गए ।
दोनों दलों के बीच जाकर, फिर रथ खड़ा वे कर दिए ।।24 ।।

राजा, रथी, श्रीभीष्म, द्रोणाचार्य के सामने ।
कौरव-कटक को देखलो, ऐसा कहा भगवान ने ।। 25 ।।

तब पार्थ ने देखे वहां, सब ही स्वजन बूढे बड़े ।
हैं पौत्र भाई पुत्र मामा, और गुरु प्रियजन खड़े ।। 26 ।।

देखे खड़े स्नेही श्वसुर, कौन्तेय विस्मय से पगे ।
दोनों दलों में देखकर, प्रिय बंधु बांधव सब सगे ।। 27 ।।

अर्जुन ने कहा

फिर करूणाविगलित कंठ से, कहने लगे वे खिन्न हो ।
हे, कृष्ण ! रण में देखिए, हैं एकत्र ये अभिन्न जो ।।28 ।।

होते शिथिल सब अंग मेरे, सूखता मुख जा रहा ।
और कांपता थर-थर बदन, रोमांच होता आ रहा ।।29 ।।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।। 30 ।।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।। 31 ।।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।। 32 ।।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।। 33 ।।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ।। 34 ।।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।। 35 ।।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।। 36 ।।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।। 37 ।।

तन जल रहा है सब मेरा, गांडीव भी गिर जायेगा ।
है धीर मन धरता नहीं, क्या तन खडा रह पायेगा ।।30।।

मन क्लांत केशव! हो रहा, विपरीत रंग सब दिख रहे ।
रण में स्वजन का मारना, कल्याण को क्या लिख रहे ।।31।।

भोग ही सब व्यर्थ हैं, इच्छा नहीं जय-राज्य की ।
गोविंद क्या उपयोगिता, होगी यहां साम्राज्य की ।।32।।

सुख-भोग, सम्पत्ति राज्य की, जिनके लिये इच्छा रही ।
लड़ने खड़े वे आस तज, धन और जीवन की वही ।।33।।

मामा पितामह सुत सभी, आचार्य बूढ़े बड़े ।
साले श्वसुर स्नेही सभी, प्रिय पौत्र संबंधी खड़े ।।34।।

त्रैलोक्य का यदि राज भी, मुझको मिले मधुसूदने ।
कैसे चलाऊं तीर मैं, यदि शस्त्र से मारें मुझे ।।35।।

हे जनार्दन ! संताप होगा, फिर इन्हें तो मारकर ।
हों ये भले ही आततायी, पर पाप होगा काटकर ।।36।।

वध बन्धुओं का उचित माधव ! क्या कहीं देखा लिखा ।
है कौन ? जो सुख भोग पाया, मार बंधु को सखा ।।37।।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।। 38 ।।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।। 39 ।।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।। 40 ।।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ।।41 ।।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।।42 ।।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।।43 ।।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।।44 ।।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।।45 ।।

जो लोभ से अंधे हुए, उनको न दिखता पाप है ।
कुल-नाश का क्या दोष, स्वजन-द्रोह का क्या शाप है ।।38।।

जनार्दन जब ज्ञान है ! कुल-नाश के सब दोष का ।
इस पाप से बचकर भला, फल क्यों न लें संतोष का ।।39।।

कुल नष्ट होने से सनातन, धर्म ही मिट जाएगा ।
फिर आपदाएं आयेंगी जब, धर्म संकट पाएगा ।।40।।

जब वृद्धि होती पाप की, कुल की बिगड़ती नारियां ।
हे कृष्ण ! बढती जायेंगी, तब वर्णसंकर जातियां ।।41।।

कुलघातकी को और कुल को ये गिराते पाप में ।
होता न तर्पण पिण्ड यों, पड़ते पितर संताप में ।।42।।

कुलघातकों के होने वाले, वर्णसंकर पाप से ।
कुल जाति सारे ही सनातन, धर्म मिटते आप से ।।43।।

कुल-धर्म जिनके कृष्ण, होते इस तरह से भ्रष्ट हैं ।
कहते बड़े-बूढ़े रहे, पाते नरक में कष्ट हैं ।।44।।

राज्य-सुख का लोभ, हा ! यह पाप सब करवा रहा ।
सम्बंधियों के प्राण हरने, को हमें उकसा रहा ।।45।।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।। 46 ।।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।। 47 ।।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुन विषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

यदि शस्त्र से संधान कर, कौरव मुझे मारें अभी ।
तो क्यों करूं प्रतिकार, छोड़ूं अस्त्र-शस्त्रों को सभी ।।46।।

संजय ने कहा

पार्थ ! ने रण भूमि में धनु-बाण फिर सब धर दिए ।
इस भांति वे मुख मोड़कर, अति शोक से व्याकुल हुए ।।47।।

।।प्रथम अध्याय समाप्त।।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।। 1।।

श्री भगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्य मकीर्तिकरमर्जुन।। 2।।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।। 3।।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।। 4।।

गुरूनहत्वा हि महानुभावाच्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुन्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ।। 5।।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ।। 6।।

दूसरा अध्याय

(सांख्य-योग)

संजय ने कहा -

करूणा भरे, अश्रु लिए, वे दुःख से दहते रहे ।
इस भांति मधुसूदन वचन, कौन्तेय से कहते रहे ।। 1 ।।

श्री-भगवान ने कहा -

अब क्यों विपत्तिकाल में, अर्जुन हुआ अज्ञान है ।
इसमें न हित कोई यहां, नहीं स्वर्ग, सुख, सम्मान है ।।2 ।।

अनुचित नपुंसकता यह, हे पार्थ इसको छोड़िए ।
यह क्षुद्र कायरता परंतप, इससे मुख तो मोड़िए ।। 3 ।।

अर्जुन ने कहा -

मधुसूदन शस्त्र कोई भी समर में, मैं चला सकता नहीं ।
धनु भीष्म द्रौणाचार्य पर तो, मैं उठा सकता नहीं ।। 4 ।।

हे भगवान ! पूजित गुरूजनों को, मारना क्या चाहिए ।
अच्छा है इससे मांग भिक्षा, पेट भरना चाहिए ।।
इन गुरूजनों को मारकर, वैभव न भोगे जायेंगे ।
इनके रूधिर से वे सने, फिर काटने को आयेंगे ।। 5 ।।

फिर कौन जीतेगा यहां, इसका न हमको ज्ञान है ।
कुछ भी यहां निश्चित नहीं, सब ओर ही अज्ञान है ।।
इस भांति उनको मारकर, फिर हम नहीं जी पायेंगे ।
धृतराष्ट्र-सुत कौरव यहां, लड़ने भले आ जायेंगे ।। 6 ।।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।7।।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।।8।।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृशीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ।।9।।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ।। 10।।

श्री भगवान उवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।। 11।।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।। 12।।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।। 13।।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।। 14।।

स्वभाव मानो अब मेरा, कायरपने से नष्ट है ।
हूँ धर्म को भूला हुआ, मति मोह से भी भ्रष्ट है ।।
मैं हूं शरण बस आपकी, अब सत्य शिक्षा दीजिए ।
मैं अब भरम में हूं पड़ा सब आप निश्चित कीजिए ।।7।।

वैभव भरा यह राज्य भी, चाहे सहज मिल जायेगा ।
और हमको इन्द्रासन भले ही, स्वर्ग-सुख दे जायेगा ।।
साधन न ऐसा फिर मुझे, दिखता कोई संसार में ।
जो फिर सहायक हो सके, संताप के निस्तार में ।। 8।।

संजय ने कहा -

कह दिया फिर कृष्ण से, राजन मैं लड़ सकता नहीं ।
इस भांति अर्जुन ने कहा, और मौन हो बैठे वहीं ।। 9।।

वे पार्थ जो रणभूमि में, यों दुख से दहने लगे ।
हंसते हुये हृषिकेश उनसे, ये वचन कहने लगे ।। 10।।

श्री भगवान ने कहा -

इस योग्य क्या जिनके लिये, तू शोक में डूबा हुआ ।
जीवन-मरण के शोक से, ज्ञानी है क्यों ऊबा हुआ ।। 11।।

किस काल में तू और मैं, राजा बता क्या थे नहीं ।
यह और क्या संभव कि अब, फिर और हम होंगे नहीं ।। 12।।

फिर गया बचपन और यौवन, यह देह जरा से हैं जर्जर ।
व्यर्थ न तू मोहित हो इस पर, जब यह देह भी है नश्वर ।। 13।।

ठंडी गर्मी जैसे सुख-दुख भोग रहे कौन्तेय यहां ।
आते-जाते सदा रहे हैं, नारायण संयोग यहां ।। 14।।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।। 15 ।।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।। 16 ।।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।। 17 ।।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।। 18 ।।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।। 19 ।।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।। 20 ।।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।। 21 ।।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।22 ।।

वही श्रेष्ठ नर जिनको, इनसे व्यथा नहीं हो पाई है ।
मोक्ष योग्य सुख-दुख में, जिसको वैसी सद्गति आई है ।। 15 ।।

अस्तित्व न जिनका डर कैसा, फिर सत का नहीं अभाव यहां ।
यह किया ज्ञानियों ने निश्चय, नहीं कोई है ठहराव यहां ।। 16 ।।

एक तत्व अविनाशी जिसने ,सारे जग को व्याप्त किया ।
फिर स्वयं मिटाने अविनाशी को, कौन यहां पर्याप्त हुआ ।। 17 ।।

अमर अचिन्त्य अविनाशी है, यह सदा आत्मा देही में ।
केवल देह नष्ट होती है, युद्धों की अवलेही में ।। 18 ।।

जीव न मरता, नहीं मारने वाला, उसको जान कभी ।
सच में मरना, नही मारना, इसको लो पहचान अभी ।। 19 ।।

है जीवन-मरण नहीं उसका, अस्तित्व अभी फिर भी होगा ।
अज, अमर, पुरातन, शाश्वत है, तन के मरने से क्या होगा ।। 20 ।।

यह नित्य अजन्मा अविनाशी, तुम इसको अव्यय जान रहो ।
नहीं कोई कराता, करता वध, ऐसा ही इसको मान रहो ।। 21 ।।

जीर्ण शीर्ण वस्त्रों को जैसे, यहां बदलते आये हैं ।
वैसे तज कर देह पुरातन, जीव नवल तन पाये हैं ।। 22 ।।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।23।।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।। 24।।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।। 25।।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।। 26।।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य त्त ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।। 27।।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।। 28।।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।।29।।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।। 30।।

काट सके नहीं शस्त्र आत्मा, और आग से जले नहीं ।
सुखा सके नहीं इसको वायु, और न जल से गले कहीं ।।23।।

जले, गले और छिदे नहीं, यह सम्भव नहीं सूख जावे ।
सदा सनातन नित्य आत्मा, थिर निश्चल इसको पावे ।।24।।

इन्द्रिय ज्ञान से दूर चिन्तना, ना मन की भरपूर रही ।
फिर अविकारी हित चिन्ता मन से, क्यों नहीं कोसो दूर करी ।।25।।

जो नित्य जन्म और मरना इसका, अब तक कहते आए हैं ।
महाबाहो ! चिंता के कारण, क्यों उनके नहीं गिनाए हैं ।।26।।

जिसने जन्म लिया मरना है, कहीं जन्म फिर वे लेंगे ।
ऐसे अटल नियम हैं फिर क्या, चिंता के कारण होंगे ।।27।।

नहीं दिखे जो जन्म पूर्व और नहीं अन्त में व्यक्त रहे ।
दिखे मध्य में जो केवल, क्या उसकी चिंता उचित कहें ।।28।।

कभी कोई अचरज से देखे और कोई अचरज से बोल रहा ।
उसे नहीं कोई पहचान सका, सुन क्यों अचरज से तोल रहा ।।29।।

यह अवध आत्मा कही गई, वध होता इसका कभी नहीं ।
फिर मरणशील प्राणी का अर्जुन, शोक मनाना ठीक नहीं ।।30।।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽछ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।। 31 ।।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।। 32 ।।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
तत.स्वधर्मः कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।। 33 ।।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितय चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।। 34 ।।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।। 35 ।।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिता ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।। 36 ।।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।। 37 ।।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।। 38 ।।

फिर खोकर साहस धर्म भूलना, यह अपकर्म कहाया है ।
नहीं धर्म युद्ध से बढ़कर फिर, कोई क्षत्री धर्म बताया है ।।31।।

रण स्वयं स्वर्ग का द्वार, खुला है क्षत्री धर्म निभाने को ।
यह बडे पुण्य से मिल पाता, फिर अपना शौर्य दिखाने को ।।32।।

क्षत्री के हित बढ़कर रण से, कोई भी धर्म नहीं होता ।
जो खोकर धर्म पाप पावें, अपयश ही प्राप्त उन्हें होता ।।33।।

अपयश से बढ़कर जीवन में, क्या कोई भी अपमान रहा ।
फिर कुलीन पुरूषों को अपयश, मरणतुल्य अवसान कहा ।।34।।

रण से डरकर भाग गया वह , सब अर्जुन ऐसा लोग कहें ।
सम्मान जो अब तक करते थे, वे सभी तुम्हें धिक्कार कहें ।। 35।।

कहने ना कहने की बातें, शत्रु फिर अवसर पाएगा ।
समरथ होकर भी तू जग में, निन्दित सबमें हो जाएगा ।।36।।

यदि बचो तो राज भोगना और मरो तो स्वर्ग मिले ।
यदि युद्ध हेतु तत्पर हो, तो निश्चय ही यश की बात बने ।।37।।

हानि लाभ और हार-जीत में, सुख-दुख में तुम सम रहना ।
यह मान धनुर्धर युद्ध करो, नहीं पड़े पाप तुमको ढोना ।।38।।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।। 39।।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।। 40।।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।। 41।।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।। 42।।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।। 43।।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धि; समाधौ न विधीयते ।। 44।।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।। 45।।

यावनर्थ उदपाने सर्वतःसंप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।। 46।।

यह तुझे बताया सांख्य ज्ञान, अब योग ज्ञान भी सुन लीजे ।
पाकर बन्धन पार्थ ! कर्म के उन्हें शीघ्र ही तज दीजे ।। 39 ।।

कर केवल आरम्भ योग, सब ही बाधाऐं दूर करे ।
जो कर ले थोडा सा पालन, उसके वह संकट स्वयं हरे ।। 40 ।।

इसी मार्ग में निश्चय वाली, बुद्धि ही सारा काम करे ।
बहुत भेदवाली, बुद्धि, तो केवल भेद दिया करती ।। 41 ।।

वेदवाद और स्वर्ग कामनाओं से, तो काम नहीं चलते ।
इनके सिवा नहीं है कुछ भी, कहने से योग नहीं टलते ।। 42 ।।

जो भोग और सुख पाने को, इनका बहुविधि विस्तार करें।
वे जन्म-रूप इन कर्म फलों को, बातों में सब सार भरें ।। 43 ।।

जो फंसे हुए इन बातों में, वे वैभव भोग किया करते ।
व्यवसाय बुद्धि वाले ऐसे, हैं पार्थ समाधि कब धरते ।। 44 ।।

तीन गुणों के विषय वेद, पर तुम हो गुण के पार सखे ।
योगक्षेम, निर्द्वन्द्व हुए नित, तुम ही आत्मावान दिखे ।। 45 ।।

पड़े जरूरत जितने जल की, कुएं से वह लेना चाहिए ।
और प्रयोजन यही विप्र को, वेदों से रखना चाहिए ।। 46 ।।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।। 47 ।।

योगस्थः कुरु कर्माणि संङ्ग त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।48 ।।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।। 49 ।।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।50 ।।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।। 51 ।।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।। 52 ।।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।। 53 ।।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।।54 ।।

है केवल अधिकार कर्म का, फल की चिंता नहीं करो ।
नहीं बैठना कर्म छोड़कर, फल की वासना नहीं करो ॥ 47 ॥

सिद्धि और असिद्धि में, मत कोई आसक्ति करो सखे ।
योगस्थ हुए तुम कर्म करो, यह योग में समता-ज्ञान सखे ॥ 48 ॥

इस बुद्धियोग से और सभी तो कर्म अतिशय हीन कहे ।
क्यों दीन फलों की चाह करें, अर्जुन ! तू योग अधीन रहे ॥ 49 ॥

तू पाप पुण्य से दूर हुआ और बनकर योगी सदा रहे ।
कर्म में कौशल समझ योग, तू जुडा योग से सदा रहे ॥ 50 ॥

तू बुद्धियोग से कर्म करे और त्यागे फल मतिमान सदा ।
नहीं जन्म के बंधन रहें और, हरि पद पावें गतिमान सदा ॥ 51 ॥

तब मोह के दूषित जल से, उनकी मति पार हो जाएगी ।
जब सुने सुनाए विषयों से, वैराग्य गति मिल जाएगी ॥ 52 ॥

तब अचल श्रुति भ्रांत बुद्धि को, निश्चल समाधि भी वहां मिले ।
जब योग समत्व वहां होगा, तब पार्थ तुझे सब वहां मिले ॥ 53 ॥

अर्जुन ने कहा -

है कौन समाधि स्थित केशव! किसको प्रज्ञावान कहें ।
वे कैसे धीर पुरूष चलते, बैठे कैसे क्या वचन कहें ॥ 54 ॥

श्री भगवान उवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।। 55 ।।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।। 56 ।।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। 57 ।।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।58 ।।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।। 59 ।।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।। 60 ।।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। 61 ।।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।। 62 ।।

श्री भगवान ने कहा -

जब हटकर पार्थ ! कामनाओं से, मन फिर कोसो दूर रहे ।
रंगें स्वयं ही स्वयं आपमें, तब उनको स्थित प्रज्ञ कहें ।। 55 ।।

सुख में चाह नहीं है जिनकी, दुख में जो नहीं खेद करें ।
वे स्थित बुद्धि वाले ही, भय राग क्रोध से दूर रहें ।। 56 ।।

जिसको है शुभ में हर्ष नहीं, है और अशुभ में दोष नहीं ।
और जिसे स्नेह सर्वत्र नहीं, होता है स्थित प्रज्ञ वही ।। 57 ।।

और चार सिरों से अंग समेटे, कछुए जैसा पार्थ सखे ।
सभी इंन्द्रियां प्रज्ञावान की, फिर विषयों से दूर हटें ।। 58 ।।

आहार छोड़कर भी जब रस, केवल विषयों से दूर रहे ।
किन्तु ब्रह्म पा लेने पर फिर, रस में वह नहीं चूर रहे ।। 59 ।।

जो सदा इन्द्रियों का करते हैं, अपने आप कौन्तेय! दमन ।
वे जहां हुई बलवान स्वयं, फिर खींच लिया करती हैं मन ।।60 ।।

जो रोक इन्द्रियों को बैठे, और जो मुझमें मन लगा सकें ।
फिर उनके वश में होंय इन्दियां, प्रज्ञावान वे कहा सकें ।। 61 ।

विषयों का चिन्तन करने से, रस विषयों में बढ़ जाता ।
और बढ़े कामना संगत से, फिर क्रोध वहां ही चढ़ जाता ।। 62 ।।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।। 63 ।।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।। 64 ।।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।। 65 ।।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।66 ।।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।। 67 ।।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।68 ।।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।69 ।।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।। 70 ।।

फिर क्रोध से मोह बढ़ा करता, जो स्मृति नाश किया करता ।
स्मृति नाश से हो बुद्धि नाश, उससे सब नाश हुआ करता ।।63।।

जो राग द्वेष से मुक्त इन्द्रियां, उसके ही आधीन रहें ।
फिर भोग लगाकर विषयों का, वह सदा-सदा निर्द्वन्द रहे ।।64।।

वह पाकर प्रसाद पावन जन से सारे कष्टों का हरण करे ।
फिर हो जाती हद बुद्धि भी, जब चित्त भी नित्य प्रसन्न रहे ।।65।।

है जो हीन साधना से, वहां नहीं उत्तम कहलाओगे ।
है नहीं शांति बिना भावना, फिर सुख कैसे उपजाओगे ।।66।।

जब विषयों में फिरें इन्द्रियां, और उनमें मन रमण करे ।
जैसे बहकर नाव पवन से, बुद्धि जल में हरण करे ।। 67।।

जब विषयों से सभी इन्द्रियां, महाबाहो फिर दूर रहें ।
ऐसे ही प्रज्ञावान पुरूष को, सब जन स्थित प्रज्ञ कहें ।।68 ।।

जब संसार शयन में हो, तो योगी जन ही जाग रहें ।
जब जाग रहे यह जग सारा, ज्ञानी पुरूषों की रात कहें ।।69।।

चारों ही दिशा से सागर में, जैसे जल आया है करता ।
उस अचल सिन्धु में जैसे जल, फिर सभी समाया है करता ।।
फिर आकर विषय इसी भांति, वे जिसमें सदा समाते हैं ।
वे सदा शांति पा लेते हैं, जो भोगी कभी न पाते हैं ।। 70।।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।। 71 ।।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।72।।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।।२।।

त्याग कामना इच्छाओं की, जो जन विचरा करते हैं ।
वे मद ममता को छोड सदा, शांति को पाया करते हैं ।।71।।

पाकर इस ब्राह्मी स्थिति को, जो पार्थ ! नहीं मोहित होता ।
वह पाता पद निर्वाण सदा, और इसी स्थिति में रहता ।।72।।

।। दूसरा अध्याय समाप्त ।।

अथ तृतीयोध्याय:

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणास्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ।। 1।।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।।2।।

श्री भगवान उवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।। 3।।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरूषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।। 4।।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिशठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। 5।।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।6।।

तीसरा अध्याय

(कर्म योग)

अर्जुन ने कहा -

हे जनार्दन यदि श्रेष्ठ बुद्धि को, कर्म से तुम कह रहे ।
फिर क्यों मुझे तुम क्रूर कर्मों में लगाते जा रहे ।। 1 ।।

उलझन भरे इन वाक्यों से, संशय मेरा है बढ रहा ।
तुम एक निश्चय कर कहो, कल्याण हो जिससे मेरा ।। 2 ।।

श्री भगवान ने कहा -

फिर ज्ञानियों की ज्ञान से, मैने कही निष्ठा यहां ।
और कर्मयोगी की रही है, योग निष्ठा भी वहां ।। 3 ।।

यहां कर्म केवल छोड़कर, ही निष्कर्म हो जाते नहीं ।
बस कर्म के ही त्याग से, जन सिद्धि को पाते नहीं ।। 4 ।।

बिन कर्म तो संभव नहीं, कोई पुरुष पल भर रहे ।
फिर सत्व-तम-रज के गुणों से, नित कर्म यू होते रहे ।। 5 ।।

कर्मेन्द्रियों को रोक मन, जिसका विषय चिंतन करे ।
वह मूढ पाखण्डी न जाने, दम्भ निज मन में भरे ।। 6 ।।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।7।।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।।8।।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।।9।।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।।10।।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।।11।।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ।।12।।

यज्ञाशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुंन्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।13।।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।।14।।

शासन करे जो इन्द्रियों पर, और आसक्ति तजे ।
जो कर्मेन्द्रियों से कर्म करता, श्रेष्ठ वह अर्जुन सखे ।। 7 ।।

बिन कर्म से अच्छा यह, नित कर्म करना चाहिए ।
और कर्म से ही तन स्वयं का, साधना फिर चाहिए ।।8 ।।

यज्ञ के शुभ कर्म केवल, छोड सब बंधन बने ।
यज्ञार्थ कर्मों को करो, नहीं और आसक्ति सने ।।9 ।।

हैं प्रजा के साथ रचना यज्ञ, विधि के ये वचन ।
हों इससे मनोरथ सिद्ध सारे, और होते उन्नयन ।।10 ।।

फिर देव तुष्टि यज्ञ से कर, देव से वरदान लो ।
और फिर यह परस्पर तुष्टि का, कल्याण मारग जान लो ।।11 ।।

और यज्ञ से हो तृप्त पूरी, कामनाएं देव करते ।
जो बिन समर्पण भोगते हैं, चोर उनको ही बताते ।।12 ।।

जो यज्ञ में दे भाग खाते, वे पाप से छूटते रहे ।
तन के लिए ही-जो पकाते, बस पाप वो खाते रहे ।।13 ।।

प्राणियों का अन्न से फिर वृष्टि से, ही अन्न का उद्भव हुआ ।
और वृष्टि होती यज्ञ से फिर यज्ञ भी, शुभ कर्म से संभव हुआ ।।14 ।।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगत ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।। 15 ।।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।।16 ।।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।17 ।।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन् ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।।18 ।।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरूषः ।।19 ।।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।।20 ।।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।21 ।।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।22 ।।

कर्म ब्रह्म से होते आए, अविनाशी से ब्रह्म कहे ।
सर्वव्यापी वह ब्रह्म, यज्ञ में नित-नित ही तो रमा रहे ।। 15 ।।

जो इन चक्रों के अनुसार, और इस भांति भी नहीं चले ।
वह लम्पट कामी पापायु, यहाँ भूमि-भार सा व्यर्थ पले ।। 16 ।।

जो आत्मा में नित रमण करे, वह आत्म तृप्त ही कहलावे ।
और जो आत्मा में संतुष्ट हुआ, उसे कर्म शेष नहीं रह जावे ।।17 ।।

कुछ करने या ना करने से, कोई भी लाभ नहीं होता ।
पार्थ ! प्राणियों से उसको, प्रयोजन शेष नहीं होता ।।18 ।।

इसलिये छोड़कर आसक्ति, कर्तव्य भाव से कर्म करे ।
इस भांति कर्म करने वाला, वह परम धाम को प्राप्त करे ।।19 ।।

जनकादि ने भी ऐसे ही, कर्मों से सिद्धि पाई थी ।
और लोक शिक्षा देने हेतु, कर्मों में रूचि दिखाई थी ।।20 ।।

फिर श्रेष्ठ जनों के कर्मों का ही करते हैं अनुगमन सभी ।
और उनके द्वारा चले पथों पर, फिर धरते हैं चरण सभी ।। 21 ।।

जब सब कुछ पाना और न पाना, मुझको है कुछ शेष नहीं ।
नहीं कुछ आवश्यक तीन लोक में, फिर भी करता हूं कर्म सभी ।। 22 ।।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। 23 ।।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।। 24 ।।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।। 25 ।।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।। 26 ।।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।। 27 ।।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति व्यत्या न सजते ।। 28 ।।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।। 29 ।।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।। 30 ।।

पार्थ ! छोड़कर आलस, यदि नहीं कर्मों में व्यवहार करूं ।
अनुकरण मेरा जो सभी करें, क्यों मैं ऐसा आधार बनूं ।। 23 ।।

यदि कर्म सभी छोड़े मैने, तो लोक भ्रष्ट हो जाएगा ।
हो जाने से सबके संकर, यह संसार नष्ट हो जाएगा ।।24 ।।

धर आसक्ति निज कर्मों में, जो नित्य मूढ़ फिर कर्म करें ।
वे लोक प्रशिक्षण हेतु कर्म में, हों अनासक्त यूं ध्यान धरें ।।25 ।।

फिर कर्मासक्त की भी गति में, डाले कुछ ज्ञानी भेद नहीं ।
स्वयं योग युत कर्म करें, फिर उनसे करवाये कर्म सभी ।।26 ।।

गुण-विधान द्वारा ही सारे, वे प्राकृतिक कर्म करें ।
पर मैं करता हूं कर्म, मूर्ख जन तो ऐसा ही दंभ भरें ।।27 ।।

गुण और कर्म के अलग अलग, जो जन विभाग है जान रहा ।
वह होता नहीं आसक्त गुणों में, फिर खेल गुणों का मान रहा ।।28 ।।

गुण कर्मों में आसक्त हुआ, जो भी जन मन में मोह धरें ।
उस मंद मूढ़ प्राणी का ज्ञानी, कभी न विचलित पंथ करें ।। 29 ।।

फिर करके अर्पित कर्म मुझे, यूं आगे आगे पार्थ बढ़ो ।
छोड़ो आशा ममता फल की, निश्चिंत हुए तुम खूब लड़ो ।। 30 ।।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ।।31।।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ।। 32।।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।33।।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।। 34।।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मो निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।। 35।।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरित पूरूषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।।36।।

श्री भगवानवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।।37।।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।। 38।।

जो दोष बुद्धि से मुक्त हुये और नित्य श्रद्धा से युक्त रहें ।
जो मेरे मत से कर्म करें, उन ही नर तो मुक्त कहें ।। 31 ।।

जो दोष दर्शी हैं मूढ़मति, माने मेरा मत कभी नहीं ।
वे सर्वज्ञान से दूर हुए, फिर हो जाते हैं नष्ट वहीं ।। 32 ।।

अपने स्वभाव के अनुसार, जो बरतें ज्ञान विधान सभी।
किस बात का निग्रह कर लें, जब विधि अनुसार हैं जीव सभी ।। 33 ।।

राग द्वेष अपने विषयों में, सभी इन्द्रियां रखती हैं ।
मत इनके वश में आ जाना, ये शत्रु भाव से तकती है ।। 34 ।।

औरों के ऊंचे धर्मों से, निज छोटा धर्म महान रहा ।
पर-धर्मों से मृत्यु भय है, अपने से ही कल्याण कहा ।। 35 ।।

अर्जुन ने कहा -

कहिए भगवन ! जब स्वयं कोई, भी करना चाहे पाप नहीं ।
फिर कौन खींच बल ले जाता है, उनसे होते क्या पाप नहीं ।। 36 ।।

श्री भगवन ने कहा !

यह काम और यह क्रोध सदा, पैदा रजगुण से हुए सभी ।
असन्तोषी पापी बैरी है, यह पाप कराता रहा सभी ।। 37 ।।

ज्यों गर्भ झिल्ली से आग धुंए से ढका है शीशा और धूल से ।
और वैसे ही यह ज्ञान ढका है, कहीं काम से कहीं भूल से ।। 38 ।।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।। 39।।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।। 40 ।।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।। 41।।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।। 42।।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।। 43।।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो
नाम तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

❀❀❀

यह काम अग्नि सा शत्रु है, जो नहीं कभी भी तृप्त हुआ ।
जब ढक लेता कौन्तेय यह, नहीं ज्ञान वहां उदीप्त हुआ ।। 39 ।।

बुद्धि, मन और इन्द्रियों में, यह सदा वास करता आया ।
जीवात्मा को मोहित कर ले, यह ज्ञान सदा ढकता आया ।। 40 ।।

दमन इंद्रियों का करके, तुम अभी शत्रु को नष्ट करो।
इस नाशकारी और पापी से, ना ज्ञान-विज्ञान का नाश करो ।। 41 ।।

विषयों से है श्रेष्ठ इन्द्रियां, इनसे भी मन तो श्रेष्ठ रहा ।
और मन से बुद्धि श्रेष्ठ, आत्मा को बुद्धि से श्रेष्ठ कहा ।। 42 ।।

है बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा, जानो तुम यह ज्ञान सही ।
जीतो मन को वश में कर लो, दुर्जय शत्रु है काम वही ।। 43 ।।

।। तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ।।

चतुर्थोऽध्यायः

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।1।।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महक्त योगो नष्टः परंतप ।। 2।।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।।3।।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।। 4।।

श्री भगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।। 5।।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।। 6।।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।। 7।।

चौथा अध्याय

(ज्ञानकर्म-सन्यास योग)

श्री भगवान यूं कहने लगे-

सर्वप्रथम यह योग सूर्य को मैंने ही बतलाया था।
सूरज ने मनु को फिर इक्ष्वाकु को, या मनु ने ही समझाया था ।। 1 ।।

योग से परिचय राजऋषि फिर परम्परा में पाए थे ।
और काल-चक्र-परिवर्तन से, फिर योग लुप्त हो आए थे।। 2 ।।

तुम्हें समझकर भक्त सखा, यह योग सभी समझाया है
यह योग श्रेष्ठ और बहुत पुरातन, मर्म तुम्हें बतलाया है।। 3 ।।

अर्जुन ने कहा-

जन्म तुम्हारा अभी हुआ, सूरज युग-युग से उगा यहां।
कर लूं कैसे विश्वास कि तुमने, ही उनसे यह योग कहा।। 4 ।।

श्री भगवान ने कहा-

मेरा और तुम्हारा अर्जुन, जन्म अनेकों बार हुआ।
सदा जानता रहा उन्हें मैं, पर नहीं तुम्हें कुछ याद रहा।। 5 ।।

अव्यय अजन्मा होकर भी, मैं सभी प्राणियों का ईश्वर।
कर प्रकृति अपने आधीन , मैंने ही माया से लिया जन्म धर।। 6 ।।

जब-जब हुई धर्म की ग्लानि, और बढ़े जब पाप सखे।
तब करने उत्थान धर्म का, हम युग-युग में हुए अवतार सखे।। 7 ।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।। 8 ।।

जन्य कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुनः ।। 9 ।।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।। 10 ।।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। 11 ।।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं व्यजन्त इहं देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ।। 12 ।।

चातुर्थवर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध यकर्तारमव्ययम् ।। 13 ।।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ।। 14 ।।

एवं ज्ञात्या कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरू कर्मैव तस्माऽवं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।। 15 ।।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामिय ज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।। 16 ।।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ।। 17 ।।

कर्मण्यकर्म यः पष्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।। 18 ।।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तबाहुः पण्डितं बुधाः ।। 19 ।।

व्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ।। 20 ।।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तासर्वपरिग्रहः ।
शरीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।। 21 ।।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ।। 22 ।।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।। 23 ।।

कर्म-अकर्मों के भेदों को, भूल रहे विद्वान सभी।
छुटें पाप से जिन्हें जानकर, वे सब कहता हूँ कर्म अभी।। 16।।

कर्म-अकर्म, विकर्मों का, कुछ ज्ञान नहीं अब पार्थ रहा।
गति कर्म की अति गहन है, अब केवल यही यथार्थ रहा।। 17।।

और कर्मों में अकर्म-भावना, कर्म अकर्मों में समझें।
योग-युक्त ज्ञानी कहलावें, वे सब कर्मों में पहले उलझें।। 18।।

उसे कहें पंडित ज्ञानी भी, हों जिनके उद्योग सभी।
फल-इच्छा के बिना भस्म हो, फिर ज्ञानाग्नि में कर्म सभी।। 19।।

आश्रय जो जग का लिया नहीं, नित तृप्त कामनायें छोड़े।
वह कर्म करे सारे फिर भी, सब कर्मों के बन्धन तोड़े।। 20।।

जो तजे कामनायें, संग्रह, त्यागे, मन वश में किया करे।
जो केवल दैहिक कर्म करें, वह पाप-पुंज से बचा रहे।। 21।।

जो द्वेष द्वंद्व से दूर असिद्धि, सिद्धि में सम रहा करें।
जो मिल जाए संतुष्ट रहे, वह नहीं कर्म में बंधा रहे।। 22।।

जिनका सदा ज्ञान में चित हो, जो मुक्त व संग-विहीन रहें।
जो यज्ञ हेतु ही कर्म करें, उनके सब कर्म विलीन कहें।। 23।।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविब्रह्माग्नौ ब्रह्माणा हुतम् ।
ब्रम्हौ तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।। 24।।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पयुपासते ।
ब्रह्मलाग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।। 25।।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।। 26।।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।। 27।।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।। 28।।

अपाने जह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणाप्रानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।। 29।।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।। 30।।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ।। 31।।

अग्नि ब्रह्म से, ब्रह्म अग्नि में, हवि, ब्रह्म सब ब्रह्म यहां ।
जो सब कर्मों को ब्रह्म समझले, वहीं पाऐगा ब्रह्म यहां।। 24।।

दैव-यज्ञ पूजा में योगी, जब जन मन का निस्तार करें।
ब्रह्माग्नि में यज्ञ से ज्ञानी, फिर यज्ञों को विस्तार करें।। 25।।

श्रोत्रादि इन्द्रियाँ आग में, कोई संयम को होम रहे।
शब्दादि कुछ विषय आग में , फिर इंद्रियों को भी होम रहे।।26।।

कर प्रदीप्त योगानल संयम, कहीं ज्ञान से होम रहे।
कहीं प्राण और कहीं इन्द्रियों के, कर्मों को ध्यान में होम रहे ।।27 ।।

कहीं योग, तप और दान से, यज्ञ व्रती जन किया करें।
कहीं करें स्वाध्याय तपस्वी, यज्ञ ज्ञान से जिया करें।। 28।।

कहीं अपान प्राण में होमें, कहीं-कहीं प्राण अपान वरें।
प्राणायाम करें, कुछ ध्यानी, प्राण-अपान समान करें।। 29।।

प्राणों का प्राणों में करें हवन, और कोई रहे मिताहारी।
काटे यज्ञों से पापों को, बन यज्ञ-निष्ठ और सुविचारी।। 30।।

जो खावे अवशेष यज्ञ का, वही ब्रह्म को प्राप्त करे।
नहीं छोड़कर यज्ञ सखे, फिर लोक और परलोक वरे।। 31।।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणों मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।।32।।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।। 33।।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।। 34।।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।। 35।।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।। 36।।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।37।।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।38।।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधि गच्छति ।।39।।

बहु प्रकार से वेदों में, इन यज्ञों का विस्तार हुआ।
ये होते है सभी कर्म से, तू यही जान गया तो पार हुआ।। 32।।

धन-यज्ञों से ज्ञान-यज्ञ का, उत्तम ही स्थान रहा।
सब कर्मों का सदा ज्ञान में, हे पार्थ !पर्यवसान रहा।। 33।।

सेवा और प्रणाम विनय से, जो पूछोगे प्रश्न सखे।
तब देंगे उपदेश ज्ञान का, सब तत्त्व दर्शी वह ज्ञान सखे।। 34।।

मोह न तुझको हो पायेगा, जब ये श्रेष्ठ विवेक मिले।
यदि मेरे जैसा ही सारे, जीवों को तू भी देख सके।। 35 ।।

यदि पापियों के संग भी तुम कोई पापाचार करो।
इसी ज्ञान-नौका से फिर, भव सागर को तुम पार करो।। 36।।

जैसे पार्थ! पावक ईंधन को, सदा जलाती आई है।
ज्ञानाग्नि ही सब कर्मों को, सदा गलाती आई है।। 37।।

कोई ज्ञान सा पावन साधन, नहीं जग में कहलाया है।
उचित समय आने पर योगी, सत् पुरुषों ने वह पाया है।। 38।।

जो कर्मों में लगे रहे, इंद्रियजित और श्रद्धावान रहें।
फिर जो भी ज्ञान को पा लेवें, उनको ही शान्तिवान कहें।। 39।।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।। 40 ।।

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।। 41 ।।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।। 42 ।।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसन्न्यासयोगो
नाम चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

❀❀❀

जो श्रद्धा ज्ञान से रहित हुए, डूबे वे संशयवान सदा।
कभी लोक-परलोक न सुधरे, और पावें नहीं सुख मान सदा।।40।।

जो योग-शक्ति से कर्म छोड़, और ज्ञान से संशय काट सका।
उस आत्मज्ञानी को फिर कैसे, फिर कर्म का बंधन बांध सका।।41।।

भ्रम हृदय में जो हुआ अज्ञान से, काट उसको ज्ञान की किरपान से।
युद्ध कर तू हो खड़ा अर्जुन सखे, आसरा ले योग का तू ज्ञान से।।42।।

।। चौथा अध्याय समाप्त हुआ।।

❀❀❀

अथ पंचमोऽध्याय:

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।। 1।।

श्री भगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।। 2।।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ।। 3।।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।। 4।।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।5।।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ।। 6।।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।। 7।।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।। 8।।

पांचवा अध्याय

(कर्म सन्यास योग)

फिर पार्थ यूं कहने लगे-

कभी योग को कहते उत्तम, और कहीं सन्यास सखे।
कहो कृष्ण निश्चय करके, जिससे कुछ पावें श्रेय सखे।। 1।।

श्री कृष्ण बतलाने लगे-

योग और सन्यास, मोक्षकारी मारग बतलाये हैं।
पर दोनों से ऊपर कर्मयोग, हितकारी साधन दिखलाये हैं।। 2।।

द्वेष की शेष ना इच्छा जिसमें, नित्य वही सन्यासी है।
छोड़ द्वन्द्व जो मुक्त हुआ, बंधन से वह सुख राशि है।। 3।।

अलग सांख्य और योग अलग, यह कहते केवल मूढ रहे।
किसी एक के साधन से, दोनों फल पर आरुढ़ रहे।। 4।।

सांख्य-ज्ञानी की वही गति, फिर कर्म योगी भी पायेंगे।
सांख्य तत्त्व के ही समान, जो योग तत्त्व बतलायेंगे।। 5।।

निष्काम कर्म जो छोड़ चुके, तो कठिन बहुत सन्यास सखे।
कर्म-योग रत शीघ्र ब्रह्म में, करे मुनि जन वास सखे।।6।।

शुचि मन से जो योग युक्त हो, वह सबको आत्मवान लखे।
इंद्रियजित वह सदा आत्मा, हो नहीं कर्म में लिप्त सखे।।

तत्त्व जानने वाले समझें, करें न कुछ हम खाते हैं।
पावें निरखें कभी न सूंघे, सुने नहीं ना जाते हैं।। 8।।

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।। 9 ।।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।। 10 ।।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ।। 11 ।।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।। 12 ।।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।। 13 ।।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।। 14 ।।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेव मुह्यन्ति जन्तवः ।। 15 ।।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।। 16 ।।

छुवें न सोवें श्वास न लेवें, और कभी ना बोल सकें।
यदि न बरते विषय इंद्रियां, नयन बंद ना खोल सकें।। 9।।

आसक्ति जो छोड़ ब्रह्म को, करके अर्पण कर्म करें।
वह कमल की भांति जल में, वे सब पापों से दूर रहें।। 10।।

मन-बुद्धि, तन और इंद्रियों, से केवल वह काम करें।
होकर वह विरक्त, आत्म-शोधन हित आठों याम फिरे।। 11।।

कर्म-फलों से हुआ विरागी, तब ही-शांति पायेगा।
और कामनाओं में बंध कर, बंधा हुआ रह जायेगा।। 12।।

खुशी-खुशी मन से कर्मों को, तज देवें जो जीव यहां।
नव-द्वार-पुरी में बिना कराए, और किए वह बसे यहां।। 13।।

रचा न प्रभु ने कर्तापन और कर्म फलों का योग नहीं।
अर्जुन यही समझ लेना, करवाता विवश स्वभाव सभी।। 14।।

कभी न लेवें पुण्य किसी का, प्रभु लेवें नहीं पाप कभी।
माया से सब ज्ञान ढके और, होवें मोहित जीव सभी।। 15।।

अज्ञान हृदय का सदा ज्ञान से, दूर सखे होता आया।
सदा प्रकाशित ज्ञान सूर्य से, तत्त्व प्रगट होता पाया।। 16 ।।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।। 17 ।।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।। 18 ।।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ।। 19 ।।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।। 20 ।।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।। 21 ।।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।। 22 ।।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।। 23 ।।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।। 24 ।।

अनन्य भाव से जो तत्पर, बुद्धि मन धरते वही कहे।
वे होकर निष्पाप ज्ञान से, पुनः जन्मते नहीं रहे।। 17।।

विद्या विनयशील विप्र को, श्वान गाय गजराज मिले।
चाहे हो चांडाल ज्ञानियों की, सम-दृष्टि के बीच तुले।। 18।।

समभाव रहे जिनके मन में, वे सदा यह जग जीत गए।
है ब्रह्म स्वयं सम-दोष-रहित, इसलिए ब्रह्म के संग रहे।। 19।।

पाकर प्रसन्न नहीं प्रिय वस्तु, जो अप्रिय पाकर खिन्न नहीं।
निर्मोही ब्रह्मवेत्ता दृढ़मति फिर हुए ब्रह्म लवलीन वही।। 20।।

आसक्त नहीं जो विषय भोग, बस वही आत्म-सुख प्राप्त करे।
जुड़े ब्रह्म अक्षय सुख भोगे, वहीं अनुभव दिन रात करे।। 21।।

दुख के कारण भोग सभी, जो बाहर के संयोग करें।
रमें नहीं विद्वतजन उनमें, जिनके आदि और अंत कहें।। 22।।

काम-क्रोध के आवेगों को, जो जीवन भर सहता है।
वह योगी नर सदा सुखों को, इस धरती पर बोता है।। 23।।

आत्मा में जो रमण करें, और आत्म ज्योति में व्याप्त रहें।
ब्रह्म स्वरूप हुए नर वे, निर्वाण गति को प्राप्त करें।। 24।।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।। 25 ।।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।। 26 ।।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।। 27 ।।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।।28।।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।29।।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसन्न्यासयोगो
नाम पंचमोऽध्यायः ।।५।।

❀❀❀

निष्पाप आत्मा द्वन्द्व हीन, जो भी संयम में लीन रहे।
करे जीव कल्याण, ब्रह्म में, वह सदा लवलीन रहे।। 25।।

काम क्रोध से दूर यति जो, आत्म-ज्ञान भरपूर हुआ।
जीत लिया मन जिसने उनके, हेतु ही निर्वाण कहा।। 26।।

धर भृकुटि के मध्य दृष्टि, जो बहिर्विषय को तज देवें।
धर आश्रय नासाग्र वही, सम प्राण-अपान भी कर लेवें।। 27।।

कर वश में मन बुद्धि इंद्रियाँ, और मोक्ष का ध्येय रहे।
क्रोध-भय और त्याग कामना, सदा मुनि बन मुक्त रहे।। 28।।

जो मुझे भोक्ता तप-यज्ञों का, और लोक स्वामी जाने।
वही शांति पावें जो मुझको, मित्र प्राणियों का मानें।। 29।।

।। पाँचवा अध्याय समाप्त हुआ।।

❀❀❀

अथ षष्ठोऽध्याय:

श्री भगवानवाच

अनाश्रित: कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य: ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रिय: ।। 1 ।।

यं सन्नयासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्नयस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चत्।। 2 ।।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शम: कारणमुच्यते ।। 3 ।।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।। 4 ।।

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन: ।। 5 ।।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जित: ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।। 6 ।।

जितात्मन: प्रशान्तस्य परमात्मा समाहित: ।
शीतोष्णसुखदु:खेषु तथा मानापमानयो: ।। 7 ।।

छठां अध्याय

(आत्म-संयम-योग)

श्री भगवान ने कहा-

फल की आशा छोड़ कर्म, में जो करता विश्वास सखे।
बिना अग्नि और बिना कर्म के, नहीं योग सन्यास सधे।। 1।।

जिसे कहें सन्यास उसे ही, योग यह संसार कहे।
संकल्प और सन्यास लिए बिन, योगी कोई नहीं बने।। 2।।

योग साधना जो चाहें, निष्काम कर्म को अपनावें।
होंय योगरत, संकल्पों के शमन सदा करते जावें।। 3।।

होकर दूर विषय से जो, आसक्त कर्म में नहीं रहे।
और संकल्प सभी त्यागें, तो उसे योग आरूढ़ कहें।। 4।।

कर अपना उद्धार स्वयं ही, नहीं स्वयं गिरने पावे।
अपना शत्रु आप स्वयं है, फिर मित्र स्वयं को ही पावे।। 5।।

जो स्वयं विजित होवे वे, बन्धु अपने आप कहाते हैं।
जो नहीं स्वयं को पहिचाने, वे स्वयं शत्रु बन जाते हैं।। 6।।

जो जीतें मन को शान्त रहें, वे सदा आत्मा सम रहवें।
जैसे सुख-दुख हों शीत गर्म, अपमान मान वे सब सहवें।। 7।।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः:
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ।। 8 ।।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिषयते ।। 9 ।।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ।। 10 ।।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।। 11 ।।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।। 12 ।।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।। 13 ।।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचरिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।। 14 ।।

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।। 15 ।।

इंद्रियजीत जो निर्विकार, फिर ज्ञान और विज्ञान वरें।
वे योग-युक्त कहलावें जो, धूरि को स्वर्ग समान धरें।। 8।।

संत-असंत और मित्र-बैरियों, का जो हित-चिंतन करते।
वे बंधु-मित्र समभाव उदासी, द्वेष विशेष नहीं धरते।। 9।।

जो एकांत होकर अकेला भी, नित्य चित्त स्थिर कर ले।
वह छोड़ परिग्रह योगी फिर, नित चित्त योग में ही धर ले।। 10।।

रहे ना स्थल ऊँचा नीचा, आसन फिर भूमि पवित्र धरे।
मृगछाला कृष्ण होवे कुश पर, उस पर वह रेशम वस्त्र करे।। 11।।

चित्त एकाग्र कर रोक इंद्रिया, मन के थामे व्यापार सभी।
और आत्म शोधन को वह बैठे, कर-कर योगाचार सभी।। 12।।

अचल और हट कर सिर, ग्रीवा काया एक समान करे।
कहीं न देखे किसी दिशा में, नासाग्र पर ही ध्यान धरे।। 13।।

धर ब्रह्मचर्य शांत और, भय मुक्त हुआ संयम धर ले।
होकर मुझमें सदा परायण, वह चित्त नित्य मुझमें कर ले।। 14।।

मन स्वाधीन पुरुष जो भी, नित्य योग में निरत हुआ।
होकर आश्रित मुझमें वह, निर्वाण शांति को प्राप्त हुआ।। 15।।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।। 16 ।।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवित दुःखहा ।। 17 ।।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ।। 18 ।।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ।। 19 ।।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।। 20 ।।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।।21 ।।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।।22 ।।

तं विद्याद्दुःसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।। 23 ।।

अति खाने से योग सधे ना, और न अति उपवास धरे।
अति नींद भी विघन योग का, और जागरण त्रास भरे।। 16।।

आहार विहार और जागरण, सहज शयन तू धार सखे।
सभी दुखों को योग हरै जब, हो परिमित व्यवहार सखे।। 17।।

किया हुआ मन वश में जब, और आत्म रमण में लीन रहे ।
रहें कामना शेष न कोई, सदा योग-तल्लीन रहे।।18।।

पवन-प्रकम्पित ज्योति हो ना, अविचल दीप शिखा रहवे।
मन वश में कर ले साधक जो, यहीं उसकी उपमा होवे।। 19।।

योग साधना में रमता मन, स्थित अरु एकाग्र रहे।
और हुआ संतुष्ट स्वयं मन, तो इसे आत्म संतोष कहें।। 20।।

परे इन्द्रियों से होकर, या बुद्धि से सुखपान करे।
वह रमा हुआ योगी तत्त्वों से, तिलभर नहीं प्रयाण करे।। 21।।

बढ़कर उत्तम जिससे जग में, लाभ नहीं दिखता कोई।
जब स्थित उसमें हो जाते, नहीं दुख डिगा पाता कोई।। 22।।

योग उसे ही कहते जिसमें, दुख न फिर लवलेश रहें।
स्थिर मन ही योग साधना, के हित योग्य विशेष कहें।। 23।।

संकल्पप्रभवाकामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।। 24 ।।

शनैः शनैरूपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।।25 ।।

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।। 26 ।।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।। 27 ।।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।। 28 ।।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः ।। 29 ।।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।। 30 ।।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।। 31 ।।

छोड़ कामनाओं संकल्पों, से जो जीवन धरती हैं।
सभी ओर से मोड़ इंद्रियां, मन विचलित कर देती हैं।। 24।।

धीर मति से शांत हुए, मन को स्थिर करना चाहिये।
किसी विषय का कोई चिन्तन, कभी नहीं करना चाहिये।।25।।

चपल और चंचल मन, जब साधन-बिन्दु पर टिके नहीं।
आत्मा के आधीन करे, और लाए रोककर उसे वहीं।। 26।।

सबको समझें ब्रह्म, शान्त मन और रजोगुणहीन रहे।
वह स्वरूप सुख पावे नित-नित, और ब्रह्मा में लीन रहे।। 27।।

इस भांति निष्पाप हुआ जो, योग साधना लीन रहे।
वह स्वरूप सुख पावे अपना और ब्रह्म लवलीन रहे।। 28।।

योग युक्त समदर्शी देखा, करते हैं जग सदा यूं ही।
स्वयं प्राणियों में अपने को, अरु प्राणी स्वयं में सदा सभी।।29।।

जो मुझे सभी में देख रहे, और जो मुझको चहुं और लखें
मैं उनसे दूर नहीं रहता, वे कभी दूर नहीं होंय सखे।। 30।।

जो सब जीवों में देख रहा है, मुझे एक सा जान सखे।
करे कर्म और भजे मुझे, उसको ही मुझमें मान सखे।। 31।।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।। 32 ।।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चन्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ।। 33 ।।

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।। 34 ।।

श्री भगवानवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।। 35 ।।

असंयातात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवासुमुपायतः ।। 36 ।।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चालितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ।। 37 ।।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ।। 38 ।।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्योस्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ।। 39 ।।

सुख-दुख अपना-सा औरों का, जिसने जग में जान लिया।
जिसने जाना अर्जुन ऐसा, उसे उत्तम योगी मान लिया।। 32।।

अर्जुन ने कहा-

जो साम्य बुद्धि से प्राप्त भोग, मधुसूदन तुमने बतलाये।
मन की चंचलता में स्थिर, फिर उनको कर किसने दिखलाये।।33।।

हे कृष्ण ! हठी मन अति चंचल, बलवान हमें दिख रहा सखे।
और पवन की भांति मन का, है बंधन अति दुष्कर सखे।। 34।।

श्री भगवान यूं कहने लगे

हे महाबाहो ! मन कठिन चंचल, है बहुत आराधना।
और वैराग्य से अभ्यास से, हे पार्थ होती साधना।। 35।।

है साधना उसको कठिन, जो जीत लेता मन नहीं।
उसको सरल आराधना, जो जीतने का यत्न करता है सही ।।36।।

अर्जुन ने कहा

जो योग विचलित यत्न करता, नहीं चाहे श्रद्धावान है।
वह योग तो पाता नहीं, पर कहो, उसका कहां स्थान है।। 37।।

जो हुआ मोहित निराश्रित, ब्रह्म पथ से भ्रष्ट हो।
वह बिखर कर बादलों सा, हो गया है नष्ट क्यों।। 38।।

हे कृष्ण! करुणा कर सभी, संशय मेरे हर लीजिए।
जाऊं कहाँ अब छोड़कर [illegible] ब दूर भ्रम कर दीजिए।। 39।।

श्री भगवानवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ।। 40।।

प्राय पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।। 41।।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम ।। 42।।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।। 43।।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।। 44।।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।। 45।।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।46।।

योगिनामपि सर्वेषांमद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मांस मे युक्ततमो मतः ।। 47।।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो
नाम *षष्ठोऽध्यायः* ।।६।।

श्री भगवान ने कहा

इस लोक में परलोक में, उनका हुआ कब नाश है?
कल्याण-कारी-कर्म में, जिनकी मति का वास है।। 40।।

वे पुण्यवानों की तरह , शुभ लोक में बरसों रहें।
धनवान के घर योग-विचलित, जन्म फिर लेते रहें।। 41।।

या जन्म ज्ञानी योगियों के, श्रेष्ठ वंशों में मिलें।
दुर्लभ सदा संसार में, जो श्रेष्ठ अंशों में खिलें।। 42।।

पूर्व जन्मों के लिखित, संयोग वह पाता रहा।
और सिद्धि हेतु वह, साधन जुटाता ही रहा।। 43।।

हे पार्थ ! पहले जन्म के, अभ्यास उसको खींचते।
हो योग-इच्छुक वेद-वर्णित, कर्म-फल से सींचते।। 44।।

फिर सर्व पाप-विहीन होता, वह सिद्ध योगी यत्न से।
बहु जन्म के पश्चात वह, गति पाता परम प्रयत्न से।। 45।।

सभी तपस्वी, ज्ञानी-जन से, और कर्मनिष्ठ से कहा सदा।
इन सबसे श्रेष्ठ कहा योगी, इसीलिए भी योगी बनो सदा॥ 46।।

सभी योगियों में मैंने, उसको ही माना श्रेष्ठ सखे।
जो श्रद्धा से ध्यान धरे, और भजता रहे यथेष्ट मुझे॥ 47॥

।। छठा अध्याय समाप्त ।।

❀❀❀

अथ सप्तमोऽध्यायः

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।। 1।।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।। 2।।

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।।3।।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।। 4 ।।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।। 5।।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।। 6।।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।। 7।।

साँतवा अध्याय

(ज्ञान-विज्ञान-योग)

हे पार्थ! मुझे घर कर चित्त में, जो आश्रय योग लिया करते।
वे अब संशय से दूर हुए, वे मुझको जान लिया करते।। 1।।

अब तत्त्व ज्ञान-विज्ञान सहित, सब कहता हूँ विस्तार सखे।
फिर जिसे जानकर नहीं जानना, रहता है संसार सखे।। 2।।

मुझको पाने हेतु हजारों में, है कोई ही यत्न करे ।
और उनमें भी कोई, फिर तत्त्व हेतु प्रयत्न करे।। 3।।

नभ, जल, वायु तेज, भूमि, सब अहंकार मन बुद्धि भी।
इन आठों में बँटी रहे, यह सभी प्रकृति मेरी ही।। 4 ।।

हे पार्थ! प्रकृति इस 'अपरों' का, ऐसा ही विस्तार यहाँ।
यह कहलाता है जीव 'परा' ही, जिसका है आधार यहाँ।। 5।।

इस जग के सारे जीव इन्हीं, से पैदा होते आये हैं।
इस जग का हूँ मैं मूल सखे, और अन्त मुझे बतलाये हैं।। 6।।

है मुझसे परे नहीं कुछ भी, हे यह सारा संसार यथा।
जैसे माला में मणियां हैं, यह मुझमें वैसे संसार गुथा।। 7।।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ 8 ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ 9 ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ 10 ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ 11 ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ 12 ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ 13 ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ 14 ॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ 15 ॥

हे अर्जुन ! जल में हूँ रस मैं, और चंदा-सूरज में आभा।
सब वेदों ने ओंकार कहा, हूँ नभ में रव, पुरुषत्व प्रभा।। 8।।

मैं ही पृथ्वी में गंध, अग्नि में तेज, प्राणी में हूँ जीवन।
बन गया तपस्या मैं उनमें, जैसे हो तपसी का सब धन।। 9 ।।

हे पार्थ! सनातन बीज जीव का, मान मुझे आधार सखे।
मैं तेजस्वी का तेज, ज्ञानी में बुद्धि का भंडार सखे।। 10।।

मैं दूर कामना इच्छा से, बल बलवानों में भरा हुआ।
धर्म-शास्त्र को मान, काम फिर हर प्राणी में पुरा हुआ।। 11।।

ये भाव सभी सत-रोज, तम के, सब मुझसे ही तो जाए हैं।
ये सब ही मुझमें हैं लेकिन हम, उनमें नहीं समाये हैं।। 12।।

इन तीन गुणों के भावों में, यह भूला है संसार सभी।
जान न पाये अव्यय तत्त्व को, जो गुण के है पार सभी।। 13।।

तीन गुणों के इसकी माया, सदा ही अपरम्पार रहे।
जो भजते हैं मुझे सहज ही, हो जाते हैं पार सखे।। 14।।

वही नराधम पापी जिनके, ज्ञान माया ने सदा हरे।
वे मूर्ख, आसुरी वृत्ति से भी, यदा-कदा नहीं भजें मुझे।। 15।।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।। 16 ।।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।। 17 ।।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।। 18 ।।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।। 19 ।।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।। 20 ।।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।। 21 ।।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ।। 22 ।।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।। 23 ।।

चार तरह के भक्त मुझे, हे अर्जुन भजते आये हैं।
अर्थप्रिय, जिज्ञासु, दुखिया, ज्ञानी रमते पाये हैं।। 16।।

अनन्य भक्ति से मुझे भक्त, जो नित ही भजते रहे सदा।
परम प्रिय मैं उन ज्ञानी को, और प्रिय वे मुझे सदा।। 17।।

ये सब प्रिय हैं किन्तु ज्ञानी, मेरा ही है वह प्राण सुनो।
वह हुआ है मुझमें ही स्थित, सबसे ऊपर गतिवान सुनो।। 18।।

वासुदेव हैं सब कुछ ऐसा, जान जो भजता रहता है।
हे पार्थ ! महात्मा किए ऐसा सब जगह न मिलता रहता है।। 19।।

जो स्वभाव से कामनाओं से, पतित ज्ञान से होता है।
पूज-पूज कर उन देवां को, उनके विधान को बोता है।। 20।।

पूजा जिसने जिन रूपों को, और श्रद्धा स्वयं निवेदन की।
की है स्थित उन देवों में, कर श्रद्धा वहीं निषेचन भी।। 21।।

जो पुरुष श्रद्धा से भरा हुआ और फिर देवों के पूज रहा।
नियत भोग वह मेरे द्वारा, फिर उन भोगों का भोग रहा।। 22।।

वे नाशवान फल सदा हुए, अल्प बुद्धिजीवों के हेतु।
और वे भजकर भक्त मेरे ही प्राप्त वे मुझको साद हुए।। 23।।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।। 24 ।।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।। 25 ।।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।। 26 ।।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ।। 27 ।।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ।। 28 ।।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ।। 29 ।।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ।। 30 ।।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो
नाम *सप्तमोध्यायः ।।7।।*

मूढ़मते ! अविनाशी को, नाशवान जो मान रहे।
इन्द्रिय-मन से परे मुझे, वे सच्चा धन नहीं जान रहे।। 24।।

योगमाया से छिपकर अपनी, सबको मैं नहीं दिखा करूं।
मैं जन्म रहित हूँ अविनाशी, यह क्या लेखों में लिखा करूं।। 25।।

जो जीव हुए, हैं, फिर होंगे, उन सबका मुझको ज्ञान सखे।
किन्तु नहीं इनमें है किसी को मेरी कोई पहचान सखे।। 26।।

द्वेष इच्छा के कारण भारत! जो सुख-दुःख है भोग रहा।
वह मोह-माया में डूबा है, अज्ञान स्वयं का छिपा रहा।। 27।।

वे पुण्यवान हैं पुरुष सभी, जो सब पापों से मुक्त हुए।
वे भव-द्वंद्वों से दूर सभी, जो भजकर मुझसे युक्त हुए।। 28।।

जो जरा-मृत्यु के बंधन से, मुक्ति हेतु साधना करते हैं।
वे पुरुष, ब्रह्म, अध्यात्म कर्म की, ज्ञान कामना करते हैं।।29।।

जो वाष्प, धूप, बादल, जल को, एक रूप समझ कर मान रहे।
वे युक्ति चित्त वाले मुझको, मरते दम भी पहचान रहे।। 30।।

।। सातवां अध्याय समाप्त।।

अथ अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरूषोत्तम् ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ।। 1।।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ।। 2।।

श्री भगवानवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।। 3।।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।। 4।।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्या संशयः ।। 5।।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजेत्यन्ते कलेवरम ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।। 6।।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।। 7।।

आठवां अध्याय

(अक्षर ब्रह्म योग)

अर्जुन ने कहा

हे कृष्ण! क्या वह ब्रह्म, क्या अध्यात्म, क्या वह कर्म है।
अधिभूत फिर कहते किसे, आधि दैव का क्या मर्म है।। 1।।

अधियज्ञ क्या है और कैसे देह में हम मान लें।
मरते समय ज्ञानी हैं कैसे, जन तुम्हें पहचान लें।। 2।।

श्री भगवान ने कहा

यह जीवात्मा अध्यात्म हुआ और उस नाशरहित को ब्रह्म कहा।
जिन यज्ञों से हैं भूत भाव, उन द्रव्य-त्याग को कर्म कहा।। 3।।

इसी देह में वासुदेव मैं, विष्णुरूप अधियज्ञ हुआ।
ये नाशवान सब अधिभूत, वह चेतन ही अधिदेव हुआ।। 4।।

अन्त समय मेरा सुमिरन कर, जो नर तन को त्याग गया।
वह नर मुझमें मिल जायेगा, जिसका संशय सब भाग गया।। 5।।

जब अन्त काल तन को त्यागें और जिन भावों में व्याप्त रहे।
वह रंगा हुआ जिन जिन भावों में, उन-उन भावों को प्राप्त करें।।6।।

इस हेतु निरन्तर सुमिरन कर, और साथ ही कर तू युद्ध सखे।
संशय सब छोड़ मिले मुझमें, तू बुद्धि ऐसी धार सखे।। 7।।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।। 8 ।।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।। 9 ।।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरूषमुपैति दिव्यम् ।। 10 ।।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।। 11 ।।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।। 12 ।।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।। 13 ।।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।। 14 ।।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।। 15 ।।

जो ध्यान लगा कर पुरुष प्रभु में, करता है अभ्यास सदा।
वह परम पुरुष को प्राप्त करे, जो रहता है विश्वास भरा।। 8।।

हो सर्वत्र अनादि अनन्त, सूरज बन तम से दूर हुआ।
उस सर्वाधार के चिन्तन से, तू भक्ति से भरपूर हुआ।। 9।।

जो धर भृकुटि में ध्यान, प्राण को मृत्यु काल में छोड़ रहा।
वह दिव्य पुरुष में मिले सदा, उस पथ में जो रथ मोड़ रहा।। 10।।

ओंकार जिसे वेदज्ञ कहें, आसक्ति रहित योगी पावें।
उस पद को तुम इस तरह सुनो, जिसको ब्रह्मचारी ललचावें।। 11।।

कर सभी इन्द्रियों को वश में, होकर निश्चल उर ध्यान धरें।
उर्ध्व प्राण फिर कर ललाट में, योगी उनका ध्यान करें।। 12।।

ओंकार को जहां उचारें और मुझमें ही तल्लीन रहें।
वह जीव त्याग तन पाय परम गति, फिर मुझमें हो लीन रहे।। 13।।

जो अनन्य मन प्रीति भाव से, सदा मुझे भजता आवे।
वह योगी मुझ में रमा हुआ , और परम सरलता से पावे।। 14।।

जो सिद्ध महात्मा जन मुझको, अपनी भक्ति से पाये हैं।
वे मुझको पाकर नहीं दुखधाम, नश्वर जग में फिर आये हैं।।

आब्रह्मभुवनाल्लोकः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।। 16 ।।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ।। 17 ।।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्तेत त्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।। 18 ।।

भूतग्रामःस एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।। 19 ।।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यःस सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।। 20 ।।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।। 21 ।।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।। 22 ।।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ।। 23 ।।

फिर ब्रह्मलोक पा जाने पर भी, लेना होगा जन्म यहीं।
लेकिन मुझको पा लाने पर, फिर होता है जन्म नहीं।। 16।।

ब्रह्मा का दिन-रात हजारों युग के सम होता आया।
वहीं पुरुष इस काल-गति का, सही ज्ञान कुछ-कुछ पाया।। 17।।

फिर अव्यक्त से दिवस हुआ तो यह जीवन हो जाता है।
और प्रलय की हुई रात फिर, सब कुछ लय हो जाता है।। 18।।

इस तरह भूतगण हुए विवश, वे लेते हैं बारम्बार जनम।
रात हुई सब लय हो जाता, फिर जनम हुआ हो गया मगन।। 19।।

इनसे भी हटकर एक निराली, सत्ता का अस्तित्व रहा।
जहां नाशवान सब जीव रहे, वहां अव्यय शक्ति का तत्व रहा।। 20।।

उस ओंकार अक्षर में ही सब, परम गति को पाये हैं।
जिसको पाकर नहीं कभी लौटते, वह धाम यही बतलाये हैं।। 21।।

जिसमें हैं सब ही जीव, और जो सकल विश्व में व्याप रहा।
अनन्य भक्ति से परम पुरुष वह, सदा ही होता प्राप्त रहा।। 22।।

जिन घड़ियों में प्राण छोड़कर, योगी लौटे कभी नहीं।
वह काल मैं तुम्हें बताऊं, जब लौटें मरकर सभी यहीं।। 23।।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।। 24 ।।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।। 25 ।।

शुक्ल कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ।। 26 ।।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।। 27 ।।

वेदषु यज्ञेषु तपः सुचैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ।। 28 ।।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो
नाम अष्टमोऽध्यायः ।।8 ।।

❀❀❀

और ज्योतिर्मय शुक्ल पक्ष में, ब्रह्मवादी जो चले गये।
उत्तरायण में गए हुए सब, उसी ब्रह्म के पास गए।। 24।।

कृष्ण पाख और निशि धूम जो, दक्षिणायन में गए हुए।
चंद्रलोक में वास करें और फिर आवें भव-त्रास लिये।। 25।।

यह शुक्ल और वह कृष्ण गति, यह जगत सदा कहता आया।
वह दूजी में फंसता आया और मुक्त पहली में जीवे हुआ।।26।।

इन दोनों पथ को जान योगयुत, नहीं मोह में पड़ो कभी।
और योग-युत सभी काल में, करो कर्म निष्काम सभी।। 27।।

फिर वेद-पाठ से यज्ञ-दान से, तप से जो भी पुण्य मिले।
होय उल्लंघन सभी फलों का, उसको पद वह अनन्य मिले।। 28।।

।। आठवाँ अध्याय समाप्त।।

अथ नवमोऽध्यायः

श्री भगवानवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वां मोक्ष्यसेऽशुभात ।। 1 ।।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ।। 2 ।।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।। 3 ।।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।। 4 ।।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।। 5 ।।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।। 6 ।।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।। 7 ।।

नवाँ अध्याय

(राजविद्या-राजगुह्य योग)

श्री भगवान ने कहा

दोष दृष्टि से रहित हुआ यह, रहस्य सहित तुम ज्ञान गुनो।
ज्ञान वह जिसको पाकर तुम, हो दुख सागर के पार सुनो।। 1।।

यह राजा सब विद्याओं का, और यह गुप्त ज्ञान भी है पावन।
यह धर्मयुक्त फल देता है, फिर यह अविनाशी है साधन।। 2।।

जिनको श्रद्धा नहीं, परंतप, पर तुम धर्मों का सार सुनो।
जो मुझे प्राप्त नहीं होते नहीं वे, भवसागर के पार सुनो।। 3।।

होकर प्रगट नहीं मैं जैसे, सारे जग को व्याप रहा।
जैसे जल में सब प्राणी हैं, पर मैं उनमें नहीं रमा।। 4।।

नहीं है मुझमें भुत सभी वे, योग-शक्ति से जान सखे।
मैं उन्हें पालता, पैदा करता, पर नहीं ममता है मान सखे॥ 5॥

जैसे नील गगन में रहती, वायु सब ही ओर सुनो।
भूत सभी मुझसे वैसे हैं, क्यों इसको नहीं जान सको।। 6।।

मैं इसी प्रकृति में जीवन सब, लय कल्प-अन्त में करता हूँ।
और सदा कल्प के आदि में, फिर-फिर उनकों मैं रचता हूँ।। 7।।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।। 8 ।।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ।। 9 ।।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।।10 ।।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।।11 ।।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ।। 12 ।।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।। 13 ।।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।। 14 ।।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ।। 15 ।।

हैं जो परतंत्र निज भावों से, उन भूत गणों को सभी रचूं।
कर बारम्बार आधीन प्रकृति, मैं सदा उन्हें उत्पन्न करुं।।8।।

मैं कर्म करूं पर कर्मों के बंधन में, बंधता नहीं कभी।
मैं तज आसक्ति रहूं उदासी और करता हूँ मैं कर्म सभी।। 9।।

ले मुझसे अधिकार प्रकृति, यह विश्व चराचर रचती है।
फिरकी की भांति इसी हेतु, फिर-फिर दुनिय यह फिरती है।। 10।।

मैं सभी प्राणियों का ईश्वर, यह भाव नहीं वे जान रहे।
इसलिए अवज्ञा करते जड़, मुझे देहधारी ही मान रहे।। 11।।

वे वृथा ज्ञान आशा कर्मों को, सब अर्थहीन करते आये।
जो राक्षस और असुर भावों को, सब अज्ञानी धरते आये।। 12।।

जो दैव-प्रकृति का आश्रय लें, वे बुधजन मेरा भजन करें।
और मुझको अव्यय जान पार्थ, वे मन अनन्य से मनन करें।। 13।।

वे करें कीर्तन नित्य यत्न से और दृढ़ व्रत मुझमें धार सखे।
फिर भक्ति भाव से भजन करें, और करें वंदना सभी सखे।। 14।।

अद्वैत भाव से मुझ विराट को, कुछ ज्ञान-यज्ञ से पूज रहे।
वे द्वैत-भाव से सेवक स्वामी, होकर पूरित हैं पूज रहे।। 15।।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ।। 16 ।।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ।। 17 ।।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ।। 18 ।।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।। 19 ।।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ।। 20 ।।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामाकामा लभन्ते ।। 21 ।।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।। 22 ।।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।। 23 ।।

मैं श्रौत और स्मार्त यज्ञ और पितरों हित मैं सुधा स्वयं।
मैं धृत, अग्नि, आहूति, मंत्र, मैं सभी औषधि हुआ स्वयं।। 16।।

मैं ही माता-पिता, पितामह और जग का पोषण हार हुआ।
मैं ही ऋग्वेद और साम हुआ, मैं शुभ यजु फिर ओंकार हुआ।। 17।।

प्रलय उत्पत्ति, पोषक, गति का, मैं मित्र आधार निधान बिना।
मैं कभी साक्षी, शरण कभी, और अव्यय वासस्थान बना।। 18।।

कभी रोक जल, ताप कभी दे, कभी वृष्टि मैं करता हूँ।
मैं ही अमृत, मैं ही मृत्यु, मैं असत और सत धरता हूँ।। 19।।

वे पीने वाले सोम, तीन वेदों से जो निष्पाप हुए।
जो मुझे पूजते यज्ञों से, और स्वर्ग-कामना आप लिए ।।
वे पावें इन्द्र के पुण्य लोक और देवों का सत्संग करें।
फिर देवों का वह दिव्य अनोखा, भोग-स्वर्ग उपभोग करें।।20।।

फिर विशाल से स्वर्ग लोक में वे भोगों में रमे रहें।
और पुण्यों के रित जाने पर, फिर दुख जाल से घिरे रहे।।
जो तीन वेद में कहे हुए, वे उन कर्म फलों में लीन रहें।
फिर वही कामना सदा-सदा, आने-जाने के आधीन रहें।। 21।।

जो अनन्य भाव से जन मुझको, सदा-सदा भजते आये।
फिर उनका ही योग क्षेम हम, वहन सदा करते आये।। 22।।

जो अन्य देव को भजते हैं, फिर नर श्रद्धा में लीन हुए।
वे भी मुझको ही पूज रहे, हे पार्थ किन्तु विधिहीन हुए।। 23।।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।। 24।।

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।।25।।

यत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।। 26।।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।। 27।।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।।28।।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्तया मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।29।।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।। 30।।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।। 31।।

मैं सारी दुनिया का स्वामी हूँ और यज्ञों को मैं भोग रहा।
वह गिर जाता है स्वयं सदा, जो नहीं मुझे तत्व से जान रहा।। 24।।

वे देव पूज पावें देवों को, और पितरों को पावें पूज उन्हें ।
वे भूत पूज पावें भूतों को, पर केवल पावें भक्त मुझे।। 25।।

यहां जो भी जल, फल, फूल पत्र को, भक्त मुझे अर्पण कर दें।
मैं उसी वस्तु को लेता हूँ, हो अनुरक्त समर्पण जो कर दें।। 26।।

तप यज्ञ आहूति कौन्तेय, जो कुछ भी तुम हो दान करो।
वह करो समर्पित सभी मुझे, मत व्यर्थ कोई अनुमान करो।। 27।।

जो अशुभ और शुभ फल देवे, उन कर्मों के बंधन काट सखे।
तू मुझे मिलेगा मुक्त हुआ, सन्यास युक्त हो जान सखे।। 28।।

कभी द्वेष हित हुआ नहीं, और विश्व है एक समान मुझे।
पर भक्त बसा मेरे मन में, और मैं भक्त के मन में बसा सखे।। 29।।

यदि कोई अनन्य मन भक्ति से, फिर दुष्ट भी भजता रहा मुझे।
प्रभु-भजन नहीं सम कुछ भी, जिसका यह निश्चय रहा सखे।। 30।।

वह धर्म से जुड़कर सदा यहां, फिर शांति भी पा जाएगा।
यह सत्य समझ लें भक्त मेरे, वह नष्ट नहीं हो पायेगा।। 31।।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।32।।

किं पुनर्ब्राह्मणा पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।। 33।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।। 34।।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो
नाम नवमोऽध्यायः ।।9।।

हे पार्थ! परम पद वे पावें, जो मेरा आसरा धरें सभी।
वे भले पाप रस लेवें, चाहे वैश्य हो, वनिता शूद्र सभी।। 32।।

फिर विप्र-भक्त ओर राज-ऋषि, की तो है कोई बात नही।
एक भजन को नश्वर जग में, ही अमूल्य सौगात कहीं।। 33।।

जो भक्त लगाकर मुझमें मन, और पूजन वंदन करे यजन।
वहीं आत्मा युक्त ध्यान कर, मिले मुझे वे हुए परायण।। 34।।

।। नवाँ अध्याय समाप्त।।

अथ दशमोऽध्यायः

श्री भगवानवाच

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।। 1 ।।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।।2 ।।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेष्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। 3 ।।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।। 4 ।।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।। 5 ।।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ।।6 ।।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ।। 7 ।।

दसवाँ अध्याय

(विभूति योग)

श्री भगवान ने कहा

हे परम शुभ ! तुम सुनो अब, तुमसे कहनी और भी कुछ बात हैं।
है तू प्रिय तुझसे कहूंगा इसलिए, जो बात हित की, वक्त की सौगात है।। 1

नहीं कोई देव और महर्षियों में, मेरी उत्पत्ति जान रहा।
क्योंकि मैं इनका आदि हूँ, कोई इसलिए नहीं पहचान रहा।। 2।।

जो मुझे अनादि अज जाने, और मुझे महेश्वर मान रहे।
वे ज्ञानवान हैं पुरुष सदा ही, और पाप भी छूटे जान रहे।। 3।।

क्षमता, सत्य, वश, मन का निग्रह, निश्चय बुद्धि वह किया करे।
सुख-दुख, उत्पत्ति प्रलय, और भय वह अभय को सदा हरे।। 4।।

समता और संतोष, अहिंसा, तप, यश, अपयश दान सभी।
फिर मुझसे ही उत्पन्न प्राणियों, के होते हैं भाव सभी।। 5।।

सनक सनन्दन चार पूर्व फिर, सप्त ऋषि, मनु पश्चात् हुए।
वे मेरे मानस पुत्र और उनसे जग के विस्तार हुए।। 6।।

जानें विभूति को वे मेरी, जो योग-शक्ति पहचान रहे।
मैं वासुदेव हूँ पर सारे जग की उत्पत्ति का कारण हूँ।।7

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावनमन्विताः ।। 8 ।।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं सुष्यन्ति च रमन्ति च ।। 9 ।।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।। 10 ।।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।। 11 ।।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ।। 12 ।।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ।। 13 ।।

सर्वमेतादृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ।। 14 ।।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ।। 15 ।।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ।। 16 ।।

मैं वासुदेव हूँ पर सारे जग की उत्पत्ति का कारण हूँ।
इसलिए तत्व से जान श्रद्धा, से क्यों भजने का कारणे हूँ।। 8।।

वे मन प्राणों को कर अर्पण, फिर कथा मेरी ही किया करें।
फिर कथन से हों संतुष्ट सखे, और रमण वे मुझमें किया करें।। 9।।

इस भांति होकर, युक्त जो नर, हैं नित्य मुझे भजते आये।
मैं उनको तत्व-ज्ञान देता, जो चाह रमण फिर करते आये।। 10।।

मैं अन्तस्तल में बैठे पार्थ, फिर कृपा हेतु यह ज्ञान धरूं।
मैं तत्व-ज्ञान का दीप जला, फिर दूर सभी अज्ञान करुं।। 11।।

अर्जुन ने कहा

तुम परम ब्रह्म हो कर पवित्र, तुम परम धाम फिर अनुपम हो।
तुम अज, अविनाशी और अनन्त, तुम आदि देव फिर उत्तम हो।। 12।।

यही नारद महामुनि, देवल और व्यास असित सब ऋषि कहें।
वही आप स्वयं मुझसे कहते, अब तक जो सारे ऋषि कहें।। 13।।

हे केशव! मैं कथन तुम्हारे, सभी सत्य तो मान रहा।
पर लीलामय हरि का स्वरूप, क्या सुर दानव कोई जान रहा।। 14।।

तुम हो सबके ईश्वर और सभी प्राणियों को करते उत्पन्न सखे।
हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही फिर अपने को पहिचान सकें।। 15।।

कौन-कौन वे महाविभूति, व्याप्त हुई संसार कहो।
आत्म-विभूति भी बतलाओ और फिर उनका विस्तार कहो।। 16।।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ।। 17 ।।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।। 18 ।।

श्री भगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ।। 19 ।।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।। 20 ।।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ।। 21 ।।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ।। 22 ।।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरु शिखरिणामहम् ।।23 ।।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ।। 24 ।।

चिन्तन करता हुआ मैं कैसे, कर लूँ फिर पहचान यहां।
कौन पदारथ जिनमें चिन्तन, करके लूं मैं जान यहां।।17।।

तुम योग शक्ति और कहो विभूति, मैं उनका विस्तार सुनुं।
मन भरता नहीं तुम्हारी वाणी से मैं फिर उसको रसधार सुनुं।। 18।।

श्री भगवान ने कहा

ये दिव्य विभूतियां कौन्तेय! सब मेरी अनन्त अशेष हुई।
मैं सभी तुम्हें बतलाऊंगा, फिर जो भी विभूति विशेष हुई।। 19।।

मैं अन्तर आत्मा सब जीवों के,हृदय मध्य हे! पार्थ सुनो।
मैं सभी प्राणियों का आदि, हूँ मध्य और अवसान सुनो।। 20।।

मैं विष्णु हूँ आदित्यगणों में और मैं ज्योति बीच दिनेश हुआ।
मैं नक्षत्रों मैं हूँ चन्दा, मैं मरुतो में मरीचि विशेष हुआ।। 21।।

मैं सब वेदों में साम और सुरवृंद बीच मैं इन्द्र हुआ।
मैं चेतन शक्ति जीवों में, मन इन्द्रियों का मैं केंद्र हुआ।। 22।।

मैं सब रुद्रों में शंकर हूँ, और यक्षों के बीच कुबेर हुआ।
मैं हूँ अग्नि फि र वसुओं में, पर्वत में गिरि सुमेर हुआ।। 23।।

मैं वृहस्पति मुख्य पुरोहित हूँ, तू पार्थ जान ले आज सखे।
मैं स्कन्द हूं सेनापतियों में, तू सरों में सागर जान सखे।।24।।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ।। 25 ।।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ।। 26 ।।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ।। 27 ।।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ।। 28 ।।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ।। 29 ।।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।। 30 ।।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।। 31 ।।

सर्गाणामादिन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ।। 32 ।।

मैं हूँ ऋषियों में श्रेष्ठ भृगु, और वचनों में ओंकार सदा।
मैं स्थावर में गिरि हिमालय, यज्ञों में हूं जप-सार सदा।। 25।।

मैं देवऋषिगण में नारद और सिद्धों के मध्य मैं कपिल हुआ।
मैं हुआ चित्ररथ गंधर्वों में, तरुवर में पीपल स्वयं हुआ।। 26।।

मैं अश्वों में उच्चैःश्रवा और अमृत मंथन का दिव्य यतन।
मैं सभी गजों में ऐरावत, मैं सभी गणों में भूप रतन।। 27।।

मैं हूँ गौवों में सुरधेनु और नागों में वासुकिसर्प हुआ।
मैं हूँ शस्त्रों में वज्र और प्रजा उत्पत्ति हेतु कन्दर्प हुआ।। 28।।

फिर पितरगणों में मुझे अर्यमा, और नाग-गणों में शेष कहो।
और सभी शासकों में यम हूँ मैं, जलचर में वरुण विशेष कहो।।29

मैं दैत्यों में भक्त प्रहलाद हुआ, फिर मैं गणकों में काल हुआ।
मैं गरुड़ पक्षियों में जैसे, पशुओं में सिंह विशाल हुआ। 30।।

गंगा जैसे बीच नदों में और शस्त्रधरों में राम हुए।
मैं वेगों में पवन हुआ, फिर मीनों में मकर अभिराम हुए।। 31।।

मैं आदि हूँ, मध्य, अन्त हूँ, इस सृष्टि का पार्थ सुनों।
विद्याओं में ब्रह्मविद्या ज्यों, और वादीगण में वाद सुनो।। 32।।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ।।33।।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ।।34।।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।।35।।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।।36।।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ।।37।।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषाताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ।।38।।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।। 39।।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ।। 40।।

मैं हुआ समासों बीच द्वंद्व और वर्णों बीच अकार हुआ।
मैं अक्षय काल हूँ हे! अर्जुन मैं ही विराट आधार हुआ।। 33।।

मैं मृत्यु नाश करने वाला, मैं सबका कारण एक हुआ।
मैं कीर्ति वाक्, मेधा,स्मृति, मैं क्षमा, धृति और श्री हुआ।। 34।।

मैं सामवेद में वृहत्साम, मुझे ऋतुओं में ऋतुराज कहा।
मैं सभी महीनों में मंगसिर, गायत्री छंदों का सरताज कहा।। 35।।

मैं तेजस्वियों में तेज और मैं छलियों में फिर हुआ जुआ।
मैं जय-निश्चय करने वालों में, सात्त्विक पुरुषों का सत्त्व हुआ।। 36

फिर वृष्णियों में वासुदेव मैं और पार्थ पाण्डवों बीच हुआ।
मैं मुनिजनों में व्यास, शुक्र, कवियों के बीच यथार्थ हुआ।। 37।।

मैं शासक का दण्ड हुआ और मैं विजयी नीतिवान हुआ।
मैं गुप्त भाव में मौन सदा और ज्ञानीजन का ज्ञान हुआ।। 38।।

फिर प्राणी मात्र का इस भांति मैं, बीज मात्र ही हुआ सखे।
हे! अर्जुन मेरे बिना चराचर , नहीं कभी भी हुआ सखे।। 39।।

दिव्य विभूतियां पार्थ! मेरी, सब, यहां अनन्त अपार हुईं।
कुछ कहीं उदाहरण हेतु यहां, इस तरह बहुत विस्तार हुईं।।40।।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽश संभवम् ।। 41 ।।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।।42 ।।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो
नाम दशमोऽध्याय: ।।10।।

❀❀❀

शक्ति विभूति और श्री से, जो जप जग में संपन्न दिखे।
वे सभी हैं मेरे तेज अंश से, जान उन्हें उत्पन्न सखे।। 41।।

अब तुम्हें काम क्या विस्तारों से,केवल इतना सार सखे।
एक अंश से ही यह मेरे, सब व्याप्त हुआ संसार दिखे।। 42।।

।। दसवां अध्याय समाप्त।।

अथ एकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ।। 1।।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ।।2।।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ।। 3।।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ।। 4।।

श्री भगवानवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्त्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।।5।।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहुन्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ।। 6।।

इहैकस्थं जगत्कृतस्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ।। 7।।

ग्यारहवां अध्याय

विश्वरूप दर्शन योग

अर्जुन ने कहा

करी जो तुमने महत कृपा यह, और अति ही गुप्त उपदेश कहा।
मिट गया सभी वह मोह मेरा, यह जब अध्यात्म विशेष कहा।। 1।।

उत्पत्ति लय का तत्व यह, विस्तारपूर्वक सुना यहां।
फिर वह महत्व अक्षय अनन्त, सारा का सारा सुना यहां।। 2।।

और जैसा ही कहा आपका वैसा, स्वरूप है यहां प्रभो।
वह फिर ऐश्वर्यपूर्ण रूप क्या, देख सकूंगा पुनः कहो।। 3।।

यदि आप समझते हैं फिर मैं, अब उस दर्शन के योग्य हुआ।
हे योगेश्वर! दिखलाओं झटपट, मेरा मन अति अब व्यग्र हुआ।।4।।

श्री भगवान ने कहा

हे! पार्थ देख लो, भांति-भांति के रूप और आकार लिये।
यहां दिव्य सैकड़ों और हजारों, बहुविधि हैं रूपाकार लिये।।5।।

यहां रूद्र, अश्विनी, वसु, मरुत, सब आदित्यों को देख सूखे।
जो कभी न देखे हैं तुमने, उन आश्चर्यों को सब देख सखे।।6।।

इसी देह में सभी चराचर जग को, तुम अब देख सको।
यदि चाह कुछ और शेष हो, तुम उसको भी फिरदेख सको।।7।।

न तु मां शक्स्यसे द्रष्टमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्म मे योगमैश्वरम् ।। 8 ।।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ।। 9 ।।

अनेकवक्त्र नयनमनेकाद्भुत दर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ।। 10 ।।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ।।11 ।।

दिवि सूर्यसहस्त्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशो सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ।।12 ।।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देव देवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।।13 ।।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ।।14 ।।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ।।15 ।।

पर मुझको अपनी आंखों से, तुम देख नहीं कुछ पाओगे।
तुम दिव्य दृष्टि पाकर मुझसे, योगी-वैभव पा जाओगे।। 8।।

संजय ने कहा

इसी भांति वे पार्थ से राजन, वचन बहुत कुछ कहे सुने।
फिर ऐश्वर्य भरे रूप का, दर्शन अर्जुन खूब किए।।9।।

उसमें मुख थे नयन अनेकों, और वहां अनोखा रूप हुआ।
और सीमारहित अद्भुत विराट का, वह रूप वहां विस्तार किया।।10।।

फिर दिव्य वस्त्र और गंधमाल को, राजन धारण कृष्ण किए।
सीमा रहित अद्भुत विराट का, वह रूप वहां विस्तार किए॥ 11॥

जहां गगन में रवि हजारों, मिलकर सभी प्रकाश करें।
उस महाकान्ति के उर में सब, वे जुटकर ही अवकाश भरें।। 12।।

तब वहां धनंजय ने हरि-तन में, वह अनुपम विस्मय देख लिया।
उस अलग-अलग सम्पूर्ण जगतको, प्रभु-तन में स्थित देख लिया।।13

अब वहां धनंजय के तन में, रोमांच हुआ विस्मय कैसा।
वह विश्व रूप को शीश झुकाए, पूछ रहा कुछ वह ऐसा।।14।।

अर्जुन ने कहा

हे प्रभु आपके इस तन में, सुर-गण सब को मैं देख रहा।
औरसभी प्राणी-समुदायों को, उसमें ही सबमैं लेख रहा।।
ब्रह्मदेव भी स्वयं कमल, आसन पर यहां विराज रहे।
यहां महेश्वर और ऋषिगण, पन्नग वे दिव्य भी साज रहे।। 15।।

अनेक बाहू दरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वरं विश्वरूप ।।16।।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ।। 17।।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं विधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ।।18।।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।।19।।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं
त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ।।20।।

उदर अनेकों और बाहों से, युक्त तुम्हें मैं देख रहा।
यहां अनेकों मुख-आंखे हैं, यह रूप मैं अद्भुत देख रहा।।
फिर आदि, मध्य और अन्त हे! ईश्वर मुझको नहीं दिखाई दे।
यह अनन्त सब विश्व रूप की, छाया मुझे दिखाई दे।। 16।।

शीश मुकुट मंजुल पहिने, वे चक्र गदा हैं धारे हुए।
हुईं प्रकाशित सभी दिशाएं, वे तेज-निधि से भरे हुए।।
गहन बहुत तुम्हें देखना, तुम हो अपरम्पार प्रभो।
हो तुम प्रकाश के पुंज, धधकती अग्नि के हो सार प्रभो।।17।।

और तुम्हीं जानने योग्य हो, अक्षर ब्रह्म हो अपरम्पार सखे।
इस सारे जग मण्डल के हो, जगदीश तुम्हीं आधार सखे।।
उस अव्यय सनातन धर्म के रक्षक, तुम ही हो सदा महान सखे।
हो तुम्हीं सनातन पुरुष यहां, मैं समझ गया भगवान सखे।। 18।।

फिर आद नहीं हैं मध्य अन्त, हो अतुलित बल भंडार सखे।
हैं सूरज चंदा रूपी नैना और भुज अपार विस्तार सखे।।
और तुम्हीं दहकते अग्नि रूप, मुख में धरते अंगारे सखे।
फिर तेज से अपने तपा रहे हो, यह सारा संसार सखे।। 19।।

स्वर्ग भूमि के बीच व्योम,
और सभी दिशाएँ व्याप गई।
रूप उग्र और अद्भुत लख कर,
त्रिलोकी ही कांप गई।। 20।।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणन्ति ।
र्षिस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वांस्तुतिभिः पुष्कलाभिः ।।21।।

रूद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतष्चोशमपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुर सिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ।।22।।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहुदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ।।23।।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्टवा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृति न विन्दामि शमं च विष्णो ।। 24

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्टैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ।। 25।।

यह देव-समूह है सभी आप में, और सब प्रवेश कर रहे सखे।
हर कोई ही हाथ जोड़कर, जय-जय फिर कर रहे सखे।।
सब महर्षि और सिद्ध-संघ, भी स्वस्ति वाचन करे वहां-
वे नाना विधि स्तुति करें, और महिमा भी गा रहे सखे।। 21।।

आठ बसु और द्वादश सूरज, सब साध्य, एकादश रुद्र खड़े।
विश्वेदेव, अश्विनी, पितर सब, सिद्ध खड़े हैं बड़े-बड़े।।
राक्षस और गंधर्व, मरुत सब, यज्ञों के समुदाय खड़े।
होकर अधिक चकित मन में वे, देख रहे हैं तुम्हें हरे।।22।।

बहुत नेत्र और बहुमुख वाला, है यह रूप अपार प्रभो।
बहुत हाथ और जंघाओं का, बहु पैरों का विस्तार प्रभो।।
बहुत उदर बहु दाढ़ों वाला, बहुत यह विकराल दिखे।
और सभी भयभीत देख यह फिर मैं भी डर रहा सखे।।23।।

और गगन को छुए यहां, दैदीप्य है ऐसा रूप सखे।
हैं नयन बहुत जलते विस्तीर्ण ज्यों मुख है कूप सखे।।
देख कर ही रूप ऐसा मन मेरा घबरा गया।
धीर नहीं मन नहीं शांति, कोई भी पा रहा सखे।।24।।

उसकी ढाढ़े बड़ी भयंकर ओर मुख महाविकराल दिखे।
जैसे अग्नि प्रलय काल की, वह और प्रचण्ड, विशाल दिखे।।
सूख गया मुख, भूल गया मैं, सभी दिशायें आज सखे।
हेजगदीश्वर ! हो प्रसन्न, और करुणा बरसाओ आज सखे।।25।।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ।। 26 ।।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गै : ।। 27 ।।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ।। 28 ।।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाविशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ।। 29 ।।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ।। 30 ।।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।। 31 ।।

देख रहा धृतराष्ट्र-पुत्र मैं, सभी राज-समुदाय लिए।
कर रहे प्रवेश हैं भीष्म द्रोण और कर्ण सभी बलवान लिए।। 26।।

उन दाढ़युक्त विकराल मुखों में, यह बात सुनो कुछ आज हरे।
सब शूर वेग से भाग-दौड़, वे उदर भर रहे आज सखे।।
कुछ लटके रण-शूर दांत में, वे देख रहे है मुझे प्रभो।
फिर पिसकर उनकी दाढ़ों में, है शीश चूर हो गए प्रभो।। 27।।

जिस भांति उफनाती सरिता, हों वेगवती सागर की ओर।
उसी भांति उन ज्वाल-मुखों में, चले सभी मिलकर उस ओर।।28।।

जलती ज्वाला में जिस जिस, भांति शलभ वेग से गिरते हैं।
उसी भांति ये मिलकर सब नर, मृत्यु-मुख को भरते हैं।। 29।

सभी ओर से ज्वाल-मुखों में, नर मिलकर घुस रहे सुनो।
रसना अपनी चाट रहे, फिर वे भक्षण कर रहे सुनो।।
उग्र प्रभाएँ सभी आपकी जग में अब छा रहीं सुनो।
और भयंकर तेज लिये वे, तपा रही संसार सुनो।। 30।।

तुम रूप धरे हो कौन हो अद्‌भुत, मुझे बताओ उग्र अभी।
हे देव! नमामि देवदेव हे! फिर हो प्रसन्न तुम आज अभी।।
है कैसा आदि रूप तुम्हारा, क्या इसको मैं जान सकूं।
जब कोई भी पता न मुझको, मैं फिर कैसे पहचान सकूं।। 31।।

श्री भगवानवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।।32।।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।।33।।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ।। 34।।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ।।35।।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ।। 36।।

श्री भगवान ने कहा

मैं लोकनाश करने आया और उग्र काल का रूप धरूं।
मैं इन सबका संहार करुं और इसीलिए यह रूप वरूं।।
यदि धनंजय नहीं हो तू भी, तो सब तेरे बिना लड़ें।
फिर भी नाश सभी का होना है, जो सब योद्धा हैं यहां खड़े।। 32 ।।

इसीलिए उठ विजय करोगे, तो तुमको सम्मान मिले।
फिर भोग करो धन-धान्य भरा, यह तुमको राज महान मिले।।
मार दिए हैं वीर पूर्व ही, पार्थ यह तुम बात सुनो-
आगे बढ़कर युद्ध करो तुम, निमित्त हेतु ही पात्र बनो।। 33 ।।

जो कर्ण, जयद्रथ और भीष्म द्रोण के साथ है योद्धा यहां खड़े।
वे मैंने पहले ही मार दिए, सब रण भूमि में यहां पड़े।।
इन मरे हुओं को मार पार्थ, क्यों व्याकुल तुम हो रहे सखे।
कर शत्रु से युद्ध-समर तू, पार्थ विजित हों आज सखे।। 34 ।।

संजय ने कहा

तुम मुकुटधारी पार्थ ने, केशव कथन, सब सुन लिया।
भयभीत हो कंपते हुए, यही हाथ जोड़े कह दिय॥
गद्गद गले से पार्थ फिर, डरते हुए, नमते हुए।
कर वंदना श्रीकृष्ण की, वे बोले ये वचन कहते हुए।। 35 ।।

अर्जुन ने कहा

यह होकर हर्षित जगत बहुत, करे कीर्तन यहां सदा।
भागे सभी दिशाओं में हैं, जिनसे राक्षस डरे सदा।।
इसीलिए तो सिद्ध-संघ भी, नमता बारम्बार सदा।
हृषीकेश ! इस योग्य आप हैं, उचित यही व्यवहार सदा।36 ।।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ।। 37 ।।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।। 38 ।।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमऽस्तेस्तु सहस्त्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।। 39 ।।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामिताविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।। 40 ।।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मयाः प्रमादात्प्रणयेन वापि ।। 41

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ।। 42 ।।

जब हो ब्रह्मा के आदिकर्ता, इसीलिए तो श्रेष्ठ कहा।
सभी तुम्हारी करें वंदना, और तुमको सबसे ज्येष्ठ कहा।।
तुम ही हो आधार विश्व के, तुम ही देव अनन्त हुए।
तुम ही सत हो असत, परे हो, तुम ही अक्षर भगवन्त हुए।। 37।।

तुम्हीं पुरातन पुरुष, तुम्हीं हो, एक विश्व-आधार सखे।
तुम्हीं हो आदिदेव, तुम्हीं हो धाम हो अपरम्पार सखे।।
तुम्हीं जानने योग्य, जानने वाले तुम भगवन्त हुए।
तुम्हीं विश्व में व्याप रहे हो, और तुम ही देव अनन्त हुए।। 38।।

तुम ही वायु, यम, पावक हो, और तुम्हीं तो फिर राकेश हुए।
तुम्हीं हो ब्रह्मा, पिता उन्हीं के, तुम ही तो अखिलेश हुए।।
सौ-सौ बार प्रणाम तुम्हेंहै और तुम्हें हजारों बार करूं।
अभिनंदन हे नाथ! तुम्हारा, और वन्दन बारम्बार करूं।। 39।।

तुमको सन्मुख और पीछे से, बारम्बार प्रणाम प्रभो।
हे सर्वेश्वर चहूं ओर से, तेरी जय-जयकार प्रभो।।
हे अनन्त बल-विक्रम वाले, और शौर्यदान बलवन्त प्रभो।
सभी ओर तुम व्याप गए हो, फिर इसी लिए भगवन्त प्रभो।।40।।

सखा समझता रहा तुम्हें मैं, और न महिमा जान सका।
कभी प्यार से, हठ, प्रमाद से, कभी यादव, फिर सखा कहा।।41।।

हंसी-ठिठौली, खान-पान में, सहज यहां व्यवहार रहा।
सोते बैठते और अकेले, फिर सहज सदा व्यापार रहा।।
सबके लिए क्षमा मैं मांगू! यदि कोई अपराध हुआ।
अपरम्पार अतुल तुम जग में, नहीं तुमसा कोई अगाध हुआ।।42।।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।। 43 ।।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।। 44 ।।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ।। 45 ।।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।। 46 ।।

श्री भगवानवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ।। 47 ।।

पिता चराचर के हो भगवन और जग के आधार तुम्हीं।
गुरुओं के भी गुरु आप हैं, और हो पूज्य ही अपरम्पार तुम्हीं।।
तीन लोको में तुमसे बढ़करकोई न समता कभी करें।
अतुलित अनुपम इस महिमा से, बढ़कर तुलना कौन करे।।43।।

इसलिए हैं वन्दन-योग्य आप, यह तन चरणों में अर्पित है।
जिस तरह प्रसन्न हो आप प्रभु, वही ईश प्रणाम निवेदित हैं।।
जैसे पिता पुत्र के हेतु, और प्रीतम प्यारी हेतु करें।
जैसे मित्र के लिए मित्रे, अपराध सभी फिर क्षमा करें।। 44।।

वह रूप देखकर हर्षित हूँ, जिसको पहले देखा न कभी।
किन्तु डर भी कुछ लगता है जिससे मेरा मन विकल अभी।।
इसलिए विश्व-आधार रूप फिर से प्रमुदित हो जाओ तुम।
फिर से अपना वह रूप नाथ, अब पुनः मुझे दिखलाओ तुम।।45।।

अब करो मुकुट धारण प्रभु, तो मैं सहज रूप वह देख सकूं।
हो गदा चक्र कर में, तब ही मैं सरल रूप वह देख सकूं।।
इसीलिए हे विश्व मूर्ति अब सौम्य ही दर्शन दिखलाओ।
वह रूप चतुर्भुज अपना, फिर सहज हमें ही बतलाओं।। 46।।

श्री भगवान ने कहा

परम प्रसन्न पार्थ ! मैं तुझ पर, और मेरा अनुग्रह-भाव सदा।
विश्व रूप यह तुझे दिखाया और ऐसा योग प्रभाव सदा।।
परम विराट तेजमय है यह, और आदि अनन्त अनूप सखे।
कभी कोई न देख सका है, और सिवा तेरे यह रूप सखे।।47।।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरु प्रवीर ।। 48।।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्टा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ।। 49।।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ।।50।।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वे मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ।। 51।

श्री भगवानवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्ट्वानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाक्षिणः ।।52।।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।। 53।।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंऽविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।। 54।।

हे कुरुप्रवीर ! मैं नहीं वेद से और यज्ञ-दान से नहीं मिलूं।
कभी विधान, तप, स्वाध्याय से, भी तो मैं फिर नहीं मिलूं।।
यही स्वरूप विराट हे अर्जुन! नहीं कभी कोई देख सके।
और कोई भी तेरे सिवा, अब कभी न कोई देख सके।।48।।

रूप यह विकराल देख कर, नहीं फिर मूढ़ अधीर बनो।
लो अब रूप देख लो पहला, तजकर भय अब वीर बनो।। 49।।

संजय ने कहा

ऐसा कह फिर सौम्य रूपधर, रूप दिखाया अर्जुन को।
और बंधायी धीर उसे फिर, भय से व्याकुल अब अर्जुन को।। 50 ।।

अर्जुन ने कहा

वह सौम्य रूप जब देख, लिया तो अर्जुन मन निश्चिंत हुआ।
भगवन को पहले की भांति, अब देख वह निश्ंचित हुआ।। 51 ।।

हे पार्थ ! रूप दुर्लभ मेरा, यह दर्शन तुमने अभी किये।
इसके लिए तरसते सुर भी , वे यही लालसा लिए हुए।। 52 ।।

मैं वेदों से, दान-यज्ञ से, और तप से मैं नहीं मिलूं।
जो कुछ तुमने देख लिया है, किसी भी नर को नहीं दिखूं।। 53 ।।

मेरी एक अनन्य भक्ति से, यह सम्भव हो गया सभी।
हे पार्थ ! ज्ञान-दर्शन से तुमको, मैं प्राप्त तत्व से हुआ अभी।। 54 ।।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।। 55 ।।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो
नाम एकादशोऽध्यायः ।।11।।

जो तत्पर कर्मों में मेरे हित, और नित्य हैं मत्पर भक्त सखे।
बैर रहित हो मुझको पाता, ऐसा ही समझ विरक्त सखे।। 55 ।।

।। ग्यारहवां अध्याय समाप्त ।।

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ।। 1 ।।

श्री भगवानवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।। 2 ।।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।। 3 ।।

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।। 4 ।।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुखः देहवद्भिरवाप्यते ।। 5 ।।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।। 6 ।।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।। 7 ।।

बारहवां अध्याय

अर्जुन ने कहा

भजते जो अव्यक्त और जो धरते तेरा ध्यान रहे।
कौन योगविद उत्तम योगी किसको श्रेष्ठ महान कहें।। 1।।

श्री भगवान ने कहा

वहीं श्रेष्ठ है जिनका मुझमें, चित्त सदा लवलीन रहा।
जो श्रद्धा से जुड़ा सदा और, भजनों में तल्लीन रहा।। 2।।

अक्षर अकथ और निराकार, जो पार बुद्धि के हैं स्वरूप।
जो श्रेष्ठ सर्वव्यापी ईश्वर, का भजें अचल कूटस्थ रूप।।3।।

जो करें इन्द्रियां फिर वश में, और समबुद्धि जो धार रहे।
वे पार्थ ! मुझे ही प्राप्त हुए, जो हर प्राणी को पार करें।। 4।।

आसक्त हुए जो निराकार में, उनको क्लेश महान हुआ।
जिसने झेली सब विपदायें, वही पुरुष गतिमान हुआ।। 5।।

हुआ परायण मुझको अपर्ण कर्म करे जो सभी मुझे।
हो अनन्य मन से भजले जो , ध्यान घड़ी भर धार मुझे।। 6।।

जो जो चित्त लगावें उनका, शीघ्र-शीघ्र उद्धार करूं।
मैं मृत्युलोक से उनका अर्जुन, नित-नित बेड़ा पार करूं।।7।।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत उर्ध्वं न संशयः ।। 8 ।।

अथ चित्तं समाधातु न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ।। 9 ।।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।। 10 ।।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।। 11 ।।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।। 12 ।।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।। 13 ।।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।। 14 ।।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।। 15 ।।

जिनके मन बुद्धि दोनों ही, मुझमें बस रमते आए।
सदा समाहित मुझमें हो वे, कुछ संशय नहीं कर पाए।।8।।

और धनंजय यदि ठीक से, मन मुझमें भी रमे नहीं।
अभ्यास योग नित-नित करना, गति मन की जो फिर थमे नहीं।। 9

यदि जम पाए अभ्यास नहीं तो, कुछ मेरे हित कर्म करो।
इस तरह कर्म करके अर्जुन, जीवन में सिद्धि प्राप्त करो।। 10।।

यदि इतना भी कर सको नहीं, धर आश्रय मुझ से जुड़े रहो।
चित्त-संयम से कर्म-फलों को , त्याग भोग से मुड़े रहो।। 11।।

उत्तम ज्ञान अभ्यास-योग से, श्रेष्ठ ज्ञान से ध्यान कहा।
श्रेष्ठ फलों का त्याग ध्यान से, शांति का वरदान कहा।। 12।।

अजातशत्रु जो द्वेष रहित हो, जगमें करुणावान हुए।
मोह न ममता दुःख सुख सम, क्षमाशील गुणवान हुए।। 13।।

जो सतत हुआ संतुष्ट, बुद्धि मन जो मुझमें अनुरक्त रहें।
उन संयमशील और दृढ़प्रतिज्ञ को, मेरा प्यार भक्त कहें।। 14।।

जिससे पावे कोई क्लेश नहीं, उसे नहीं रंच भर क्लेश मिले।
हर्ष-विषाद, भय-क्रोध बिना, मुझको प्यारा वह संत मिले।। 15।।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।। 16 ।।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यःस मे प्रियः ।। 17 ।।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ।। 18 ।।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।। 19 ।।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।। 20 ।।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्या गशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्ति योगो नाम द्वादशोऽध्यायः ।12 ।।

❀ ❀ ❀

जो शुचि दक्ष निरपेक्ष हुआ, जिसको दुख बाधा नहीं रही।
जो सर्वारंभ हो परित्यागी, प्यारा है मुझको भक्त वही।। 16।।

जो हर्ष द्वेष से हीन रहा, जो शोक कामना करे नहीं।
और शुभाशुभ फल त्यागे जो, मुझे प्रिय है भक्त वही।। 17।।

शत्रु मित्र समभाव हुए, अपमान-मान जो भूल गए।
सुख-दुःख ठंडी-गर्मी जैसे, वे आसक्ति प्रतिकूल हुए।। 18।।

जो निंदा और स्तुति में सम, मौन और संतुष्ट हुआ।
फिर वह विषय से दूर हुआ निश्छल बुद्धिमय भक्त हुआ।। 19।।

जो अमृतमय ले धर्म, परायण, हो मुझमें अनुरक्त हुए।
वे श्रद्धावान जन सदा मुझे, प्रिय मेरे पावन भक्त हुए।। 20।।

।। बारहवां अध्याय समाप्त हुआ।।

त्रयोदशोऽध्यायः

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।। 1 ।।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।। 2 ।।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन में शृणु ।। 3 ।।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।। 4 ।।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पन्च चेन्द्रियगोचराः ।। 5 ।।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।। 6 ।।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।। 7 ।।

अध्याय तेरहवां

(क्षेत्र-विक्षेत्र विभाग योग)

श्री भगवान ने कहा

यह तन ही है कौन्तेय ! क्षेत्र,सब ज्ञानी बतलाते आये।
जो जान गए हैं क्षेत्र यह, क्षेत्रज्ञ वे कहलाते आये।। 1।

हे पार्थ! क्षेत्रों में मुझको,क्षेत्रज्ञ महान तू जान सभी।
अब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ सभी का,ज्ञान तू ले फिर जान अभी।।2।।

वह क्षेत्र जो,जैसा और जहां से,हुआ विकार-युक्त जानो।
वह क्षेत्रज्ञ है किस प्रभाव का, इसे सुनो और तुम मानो।। 3

भांति-भांति के ललित छंद में , फिर ऋषियों ने कहा इसे।
ब्रह्मा सूत्र के सरस-पदों में,गाया सह विस्तार उसे।। 4।।

मन बुद्धि और अहंकार के, महाभूत के भाव सभी।
पाँच इन्द्रियाँ,पाँच विषय का, नहीं करूं विस्तार अभी।। 5

सुख-दुःख, इच्छा,द्वेष,धृति,संघात चेतना जान सखे।
बनता इन सभी विकारों से,यह क्षेत्र भी तू ले जान सखे।। 6

अभिमान,दम्भ से रहित और,मन वचन से जो भी सरल हुआ।
वह शौच,अहिंसा,क्षमा और गुरु सेवा,निग्रह से तरल हुआ।।7

इन्द्रियार्थेषु वैराग्य मनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदु:खदोषानुदर्शनम् ।। 8 ।।

असक्तिरनभिष्वङ्ग पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।। 9 ।।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वम्रतिर्जनसंसदि ।। 10 ।।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।। 11 ।।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यत ।। 12 ।।

सर्वत:पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वत:श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।। 13 ।।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।। 14 ।।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।। 15 ।।

जो विषय जनित वैराग्य इन्द्रियों से, नहीं मद में चूर हुआ।
वह जीवन,जरा, दुख,मृत्यु से,नहीं रोग से चकनाचूर हुआ।। 8।।

नारी पुत्रों में लिप्त नहीं जो, फल की इच्छा नहीं धरे।
अशुभ और शुभ के पाने में,जो सदा एकसा रहा करे।। 9।।

अनन्य-भाव से जो मुझमें, फिर अविचल भक्ति ही पावे।
और वह सेवन एकान्त करे,नहीं जग में आसक्ति लावे।। 10।।

अध्यात्मज्ञान और आत्मज्ञान को,ही तो केवल ज्ञान कहा।
जो कुछ भी विपरीत इन्हीं के,उसको ही है फिर अज्ञान कहा।।11

जो भी है जानने योग्य और,जिससे है ज्ञान निस्तार सखे।
वह नहीं असत और है सत भी,वहीं ब्रह्म अनादि अपार सखे।। 12

हाथ,पैर,सिर,नेत्र और मुख,उसके चारों ओर सुनो।
कान भी उनके सभी ओर तो,फैला वह चारों छोर सुनो।। 13।।

वे सभी इन्द्रिय-विषय जानते,फिर भी तो इन्द्रिय-हीन कहा।
अलग है होकर पालक जग से, होकर निर्गुण,गुण-लीन रहा।। 14

वे सब प्राणी के भीतर हैं, बाहर हैं और पास दूर भी।
वे अचर, चर, अति सूक्ष्म हैं, नहीं जाने जाते वह कभी।। 15।।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।। 16 ।।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।। 17 ।।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।। 18 ।।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ।। 19 ।।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।। 20 ।।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।। 21 ।।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः ।। 22 ।।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।। 23 ।।

है विभाग रहित वह एक रूप, जीवों में बंटता रहा सदा।
वह पालक, नाशक, जन्म उसी से, और वही जानने योग्य कहा।। 16

वही ज्योतियों में ज्योति है, परे है तम से ज्ञान वही।
अमित सभी में ज्ञानगम्य है, और बसा, जानने योग्य वही।। 17।।

यही क्षेत्र है, ज्ञान यही है, और ज्ञेय इसे ही कहा गया।
हे पार्थ! जानकर भक्त वह, फिर रहता मुझमें बसा हुआ।। 18।।

इन दोनों का संग अनादि, और पुरुष प्रकृति को जानो।
राग-द्वेष और द्वन्द्व विकारों, को तीनों ही गुण मानो।। 19।।

इस कार्य करण की उत्पत्ति का, है यही प्रकृति तो कारण।
इसको निमित्त का हेतु कहा, सुख-दुःख भोग का भी कारण ।।20

रह कर पुरुष प्रकृति में नित, गुण सब इसके भोग रहा ।
बुरी-अच्छी ही सभी योनियां, देता यही गुण-योग कहा ।।21।।

सही सम्मति वाला दृष्टा भोक्ता-भर्ता उसे कहा ।
और वही पर पुरुष देह में, परम-आत्मा यहां रहा।। 22।।

पुरुष-प्रकृति को जो ऐसे ही, गुणों सहित फिर जान गया ।
हो उसका बरताव भी कैसा, जन्म है उसका नहीं हुआ।। 23।।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।।24।।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽति चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।। 25।।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।। 26।।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।27।।

समं पश्यन्ति सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।।28।।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।।29।।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ।। 30।।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमाःत्मायवमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।।31।।

कुछ लोग स्वयं में स्वयं आत्मा, देख रहे हैं ध्यान लगा।
कुछ कर्मयोगी हैं योग-मार्ग से, सांख्य और कुछ ज्ञान लगा।।24।।

जो करें दूसरों से सुनकर, और भजन करें अनजान सखे।
वे भव-सागर से तर जाते, जो ध्यान करें मतिमान सखे।।25।।

जो जीव चराचर हुए यहां, और पैदा इस संसार हुए।
इन क्षेत्र, क्षेत्रज्ञों, संयोगों से, फिर उनके ही विस्तार हुए।।26।।

नित्य सदा सम वह अविनाशी, सब भूतों में रमा रहा।
इस भांति जो पुरुष ईश को, देख रहा है उन्हें यहां।।27।।

जो व्याप्त हुए सबमें ईश्वर, को सम भावों से देख रहा।
जो अपनी घात नहीं करता, हो उसे परप पद प्राप्त सखा।। 28।।

फिर अकर्ता आत्मा और कर्म करती है प्रकृति ही सदा।
देखता इस भांति जो भी है वही, यथार्थ में ही देखता है सर्वदा।।29

जब सभी प्राणियों में दिखते हैं, एक प्रभु विस्तार सखे।
वही ब्रह्म को पा जाते हैं, जब उन्हें एक विस्तार दिखे।। 30।।

यह ईश है अव्यय और निर्गुण, यह रहा अनादि सदा यहां।
यह भले देह में स्थित है, पर लिप्त कभी यह नहीं हुआ।।31।।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।।32।।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकभिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।।33।।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।। 34।।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽक्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।।13।।

❀❀❀

जैसे है सब जगह सूक्ष्म गगन, पर नहीं कभी भी लिप्त हुआ।
ऐसे सर्वत्र आत्मा है, जो नहीं देह संलिप्त हुआ।। 32।।

जैसे सारे जग में सूरज, तेज ही भरता रहा सदा।
वैसे क्षेत्र प्रकाशित होता, क्षेत्रज्ञों से यहां सदा।। 33।।

जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञों के, अन्तर को मन से समझ गए।
वे भी बंधन से छूट गए, और प्राप्त ब्रह्म को सदा हुए।। 34।।

।। तेरहवाँ अध्याय समाप्त।।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्री भगवानवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।। 1 ।।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।। 2 ।।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।3 ।।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।। 4 ।।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निर्बध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।। 5 ।।

तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसग्ङ्गे चानघ ।। 6 ।।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।। 7 ।।

चौदहवां अध्याय
(गुणत्रय विभाग योग)

श्री भगवान ने कहा

मैं अति श्रेष्ठ ज्ञानों में तुमको, ज्ञान बताऊँ और अभी।
जिनसे मुनिगण पाए सिद्धि, जिन्हें जानकर लोग सभी।। 1।।

इसी ज्ञान का लेकर आश्रय, जो रूप मेरा ही हुआ करें।
वे जन्म न ले फिर स्रष्टि काल, और लय में वे नहीं व्यथा सहें।। 2

यही प्रकृति मेरी योनि, गर्भ मैं रखता रहा सदा।
उससे ही उत्पन्न हुए हैं, ये सब प्राणी सदा-सदा।। 3।।

जिन यानि में रूप मूर्ति के, तुम अर्जुन यहां लखे।
बीज प्रदाता पिता मैं उनका, फिर योनि वहीं अनूप दिखे।। 4

इसी प्रकृति से तीन गुणों का, सत-रज-तम विस्तार हुआ।
वे इसी देह में बांध रहे, जो जीव सदा अविकार रहा।। 5।।

इन तीन गुणों में निर्मल सतगुण, और प्रकाशक आप हुआ।
जो सुख अभिमान से ज्ञान बंधा, वह स्वयं यहां निष्पाप हुआ।।6

उत्पन्न कामना तृष्णा से, फिर रागरूप यह रजो हुआ।
वही जीव को बांध रहा जो, कर्म-प्रसंग से जुड़ा हुआ।। 7।।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।।8।।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ।।9।।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।।10।।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ।।11।।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ।।12।।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।।13।।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ।।14।।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।।15।।

अज्ञान से तम उत्पन्न हुआ, यह सब जीवों को बांध रहा।
नींद प्रमाद और आलस से, यह हर प्राणी को नांद रहा।। 8।।

सुख में सतगुण और कर्म में, रजगुण ही सहयोग करें।
और तमोगुण ढके ज्ञान फिर, वह सदा ही प्रमाण-प्रसंग करे।।9

जब रज-तम दबे तो सत्त्व बढ़े, सत-तम दबने से बढ़ा रजो।
सत-रज दबते ही सदा यहां, तनधारी पर चढ़ गया तमो।।10।।

जब सब देहों की दसों इन्द्रियाँ, ज्ञानवान हो रही सखे।
तब ही यह मन मान सकेगा, बढ़ा सतोगुण यहां सखे।। 11।।

जहां नही है शांत प्रवृत्ति, लोभ व तृष्णा वहां बढ़े।
कर्मों में रत हुआ जो अर्जुन ! वहां रजोगुण खूब चढ़े।।12।।

मोह-प्रमाद जब बढ़ा हुआ हो, और वहां प्रकाश नहीं मन में।
हो आलस उत्पन्न देह में, खूब बढ़ा वह तमगुण में।। 13।।

यदि मृत्यु के समय जीव में, सतगुण ही बढ़ता जावे।
शुद्ध लोक वह सदा ज्ञानियों, का उसको मिलता जावे।। 14

जो मरे पुरुष वह रज-वृद्धि में; हो कर्मासक्त वह जन्म धरे।
और वह जन्में जड़-योनि में, तमगुण में यदि वह मरे।।15।।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।।16।।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।।17।।

उर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।।18।।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।19।।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।20।।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ।।21।।

श्री भगवानवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।।22।।

सत्त्व कर्म का श्रेष्ठ वह फल, पुण्यवान और ज्ञान कहा।
सदा रजोगुण का फल दुख और तम का फल अज्ञान कहा।। 16

सत से हैं उत्पन्न ज्ञान नित, रज से लोभ प्रधान कहा।
है तुम से उत्पन्न मोह और, वही प्रमाद अज्ञान कहा।। 17

जो सात्त्विक हैं, पुरुष स्वर्ग में, राजस फिर नर-लोक बसें।
और पुरुष हैं तामस जो गुण में, वे अधोगति में अवश फंसे।। 18

तीन गुणों के सिवा न कर्ता, जब दृष्टा यह देख सके।
तो पार समझ ले तीन गुणों से, यदि मुझे तत्त्व से जान सके।। 19

उत्पत्ति के कारण गुण का, जो करे उल्लंघन पार्थ ! सुनो।
जरा, मृत्यु और सुख-दुःख से, मुक्त मुझे तुम प्राप्त करो।। 20

अर्जुन ने कहा

उनके लक्षण कहो प्रभो जो, तीन गुणों से पार हुए।
किस भांति वे गए पार, और क्या उनके आचार हुए।। 21।।

श्री भगवान ने कहा

सत-रंज तम से जब प्रकाश हो, नहीं मोह से द्वेष करें।
यदि मिलें वे नहीं लालसा, उनकी नहीं विशेष धरें।। 22।।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।।23।।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति ।।24।।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।।25।।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।26।।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।27।।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽगुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।।14।।

❀❀❀

जो तीन गुणों से हुआ उदासी, हुआ न विचलित वह कभी।
इन्हीं गुणों ने किये कार्य, सोच वह फिर डिगा नहीं। 23।।

सुख-दुःख जिसे समान हुए, ढेला सम स्वर्ण दिखाई दे।
निंदा-स्तुति में धीर हुए, प्रिय अप्रिय एक दिखाई दे।। 24।।

जिसको हैं बैरी-बन्धु सम, जिसे मान और अपमान नहीं।
फिर शुरू करने का त्याग अहं, है गुणातीत गुणवान वहीं।। 25

जो निश्छल भक्ति से सदा मुझे, केवल भजता ही आया है।
वह तीन गुणों से पार हुआ, और सहज ब्रह्म को पाया है।। 26

मैं ही अव्यय, मैं ही अमृत और ब्रह्म का रूप महान हुआ।
मैं ही हूँ धर्म सनातन फिर मैं अमित ही मोद-निधान हुआ।। 27

।। चौदहवां अध्याय समाप्त।।

पञ्चदशोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानिं यस्तं वेद स वेदवित् ।।1।।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धानि मनुष्यलोके ।।2।।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।।3।।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।।4।।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा,
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताःसुखदुःखसंज्ञै
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।।5।।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।6।।

पन्द्रहवां अध्याय

(पुरुषोत्तम-योग)

श्री भगवान ने कहा

मूल ऊपर और शाख है नीचे, पत्र हैं जिसके वेद कहे।
तत्त्व ही से इस वृक्ष को जाने, अश्वत्थ के अव्यय भेद कहे।। 1।।

विषय है कोंपल और गुणों की, हैं ऊपर नीचे शाखाऐं।
मृत्यु लोक में जड़ हैं नीचे, हैं कर्म अनुबंधी आशायें।। 2।।

मिले स्वरूप ना उसी वृक्ष का, और ना आदि मध्याधार सुनो।
तू अश्वत्थ की मूल काट, असंग का शस्त्र प्रहार सुनो।। 3।।

वही श्रेष्ठ पद ढूंढ निकालों, और वही शरण साकार सखे।
जिसे प्राप्त कर कभी न लौटे, फिर छूटे जब संसार सखे।। 4।।

जिसने संग-दोष को जीता, और जहां मोह ममता मान नहीं।
जगा सदा है जिनके मन में, और ज्ञान अध्यात्म प्रधान वहीं।।
शेष ना जिनमें रही कामना, और सुख-दुःख का कोई द्वंद्व नहीं।
फिर पावे अव्यय वह परम पद, फिर ज्ञानी जन को मिले वही।।5।।

जिसमें सूरज का प्रकाश ना, आग-चाँद का काम नहीं।
जहां पहुँच कर कभी न लौटे, क्या मेरा-सा है धाम कहीं।।6।।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।7।।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ।।8।।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ।।9।।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।।10।।

यतन्तो योगिन्श्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।।11।।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ।।12

गामाविश्यं च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ।।13

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुविधम् ।।14।।

इसी लोक में अंश सनातन, जीव मेरा ही कहा गया।
छहों इन्द्रियों के संग मन को, मेरा ही तो कहा गया।। 7।।

जीव जहां यह धारण करता, देह त्यागता रहा कहीं।
मन इन्द्रियां करे, ग्रहण ज्यों, वह फूलों की गंध कहीं।। 8।।

आँख, कान और नाक, त्वचा ये, ले मन का आश्रय रसना।
जीव ही सेवन करता आया, सदा विषय में ही बसना।। 9।।

जब तन त्याग चले या रहते, तीन गुणों को भोग रहा।
बस इसे जानता है ज्ञानी, नहीं मूढ़ इसे पहचान रहा।। 10।।

यत्न और फिर तत्त्व से योगी, केवल इसको पहचान रहे।
फिर करके यत्न सब मूढ़मति, नहीं आत्मा को वे जान रहे।। 11।।

जिससे सारा जग आलोकित, जो बन सूरज में तेज रहा।
वहीं तेज तो तेज है मेरा, है अगन जिसे राकेश धरा।। 12।।

मैं तेज रूप हूँ, इस धरती में, सब प्राणी को धार रहा।
मैं रस रूपों में, और चंद्र में, मैं सब औषधि का सार रहा।। 13।।

मैं प्राण-अपान हूँ वैश्वानर हूँ, अग्नि बन सब पचा रहा।
मैं सभी प्राणियों में बसकर, फिर चार अन्न रस बना रहा।। 14।।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्चे सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।।15।।

द्वाविमौ पुरूषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।16।।

उत्तमः पुरूषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।17।।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अताऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम ।।18।।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरूषोत्तम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।।19।।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।।20।।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽपुरुषोयोगो नाम पंचदशोऽध्यायः ।।15।।

❀❀❀

यह सुधि ज्ञान है और अपोहन, सब मुझमें मैं सब में बसता।
जो सब वेदों में ज्ञान रहा, मैं उस वेदान्त का हूँ कर्ता।। 15।।

इसी लोक में क्षर-अक्षर भी ये ही दोनों पुरुष सदा।
इस जग में है भूत सभी क्षर, कूटस्थ है अक्षर यहां सदा।।16।।

इन दोनों से पुरुष जो उत्तम, वही धारण-पोषण किया करे।
वह परमेश्वर अविनाशी जो, पोषण तीन लोक का किया करे।। 17

क्षर-अक्षर से परे हुआ, मैं सारे जग में श्रेष्ठ रहा।
इस हेतु पुरुषोत्तम कहते, मुझे वेद-लोक में ज्येष्ठ कहा।। 18

जो तज रहा मोह और पुरुषोत्तम, हे पार्थ ! मुझे ही जान रहा।
वह सब भांति सर्वज्ञ हुआ, और भजता ही गतिमान रहा।।19।।

यह ज्ञान गुप्त से गुप्त तुम्हें, जो मैंने आज बताया है।
तुम इसे जान कर करो धन्य, यह जीवन सफल कहाया है।।20।।

।। पंद्रहवाँ अध्याय समाप्त।।

अथ षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।। 1 ।।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्नीरचापलम् ।। 2 ।।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ।। 3 ।।

दम्भो दर्पोऽस्मिानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिर्जातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ।। 4 ।।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ।। 5 ।।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रृणु ।। 6 ।।

प्रवृत्ति च निवृर्त्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।। 7 ।।

सोलहवां अध्याय

(देवासुर-सम्पत्ति-विभाग योग)

श्री भगवान ने कहा

भय-हीनता, तत्त्व शुद्धि दम और, ज्ञान की दृढ़ता जहां हुई।
स्वाध्याय और तप, दान, यज्ञ, तन-मन की सरलता वहां हुई ।।1।।

सत्य अहिंसा, मृदुता, करुणा और शांति, क्रोध-विहीन हुआ।
लज्जा, नीरवता और अनिन्दा फिर त्याग भी तृष्णाहीन हुआ ।। 2

जब धृति, तेज, अद्रोह, क्षमा, पावनता, मान-विहीन हुई।
ये चिन्ह पार्थ! हैं उनके ही, जिन्हें दैवी-सम्पदा प्राप्त हुई ।। 3 ।।

मद, मान, क्रोध, अज्ञान जहां, और मिथ्याचार कठोर हुआ।
ये आसुरी सम्पत्ति में जन्में, इनको पाना अति-चार हुआ ।। 4 ।।

है दैव-[illegible] और आसुरी बांध रही।
करो शो[illegible] ! तुम[illegible], दै[illegible] सम्पदा मान रही।। 5 ।।

[illegible] ति का, दैव-आसु[illegible] कहीं।
[illegible] वृत्ति, आसु[illegible] का विस्तार वहीं ।।6।।

कौन प्रवृत्ति कहाँ निवृत्ति, नहीं असुर यह जान रहे।
कौन है शुचिता, कहां सत्य है, आचार नहीं वे मान रहे ।। 7 ।।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ।। 8 ।।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।। 9 ।।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहादगृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ।। 10 ।।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिता ।। 11 ।।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ।। 12 ।।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।। 13 ।।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ।। 14 ।।

आढयोऽभिजनवानस्मि कोऽन्योस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ।। 15 ।।

दर्शन उनका, जगत झूठ यह, बिना ईश आधार बिना।
यह संसार भोग-हित केवल, बने नहीं संयोग बिना।। 8।।

इस दृष्टि से धरे मूढ़ नर, सदा यहां अपकार करें।
क्रूर-कर्मी वे जगत-नाश हित, नष्ट सदा संसार करें।। 9।।

मन, मान, दम्भ सब खूब भरे, और काम अपूर आधार लिये।
शुचिता बरतें नहीं मोह में, सब आग्रह असत उधार लिये।। 10

अन्तिम पल तक चिन्तायें, कभी न उनका अंत सखे।
वे विषय-भोग में लगे रहें, आनन्द उसी को कहें सखे।। 11।।

हैं क्रोध, काम की धुन उनमें, और गलत आस में बंध रहें।
सुख का है भोग लक्ष्य केवल, अन्याय से धन और धाम भरें।। 12

यह सब मेरा, जो कुछ पाया, अब और मनोरथ सिद्ध करूँ।
यह सब जो हड़पा धन मेरा, अब और कहीं अवरुद्ध करूँ।। 13

यह आज शत्रु हैं मार दिया, कल कहीं हनूंगा अभी और।
मैं ही भोगी, बलवान सुखी, मैं सिद्ध हूँ, ईश्वर चहुँ ओर।। 14

मैं श्रीमान, मैं ही कुलीन, बढ़कर हैं मुझसे कौन यहाँ।
मैं यज्ञ, दान, सुख सभी करूँ, वे मूढ़ ना समझें कभी यहाँ।। 15

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।। 16 ।।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।। 17 ।।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।। 18 ।।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।। 19 ।।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।। 20 ।।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।। 21 ।।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नर ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।। 22 ।।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।। 23 ।।

फिर मोह-बन्धन में पड़े हुए, वे सपन सरीखे भूल रहे।
वे काम-भोग में फंसे हुए, फिर पड़े नरक में झूल रहे।। 16।।

धन, मान मस्त मद में होकर, वे अज्ञ प्रशंसा स्वयं करें।
वे दम्भ अहं से भरे हुए, विधिहीन नाम का यज्ञ करें।। 17।।

काम, क्रोध, बल और गर्व से, मद से निन्दा सदा करें।
जब उन सब में मैं बसा, हुआ, फिर द्वेष वे मुझसे व्यर्थ करें।। 18

जो क्रूर, नराधम और द्वेष, वे लीन हो पापाचार करें।
वे नित्य आसुरी योनि में, गिर कर सारा संसार भरें।। 19।।

वे जन्म-जन्म तक सदा, आसुरी योनि पाते जायेंगे।
वे मुझे न पावें सदा अन्त में, अधोगति ही पाएंगे।। 20।।

ये क्रोध, काम, लालच तीनों ही, सदा नर्क के द्वार कहे।
इसलिए आत्म-नाशक इनको, तजना ही सर्वप्रकार कहे।। 21

इन नर्क-द्वार से मुक्ति हेतु, जो पुरुष पार्थ ! है यत्न करे।
वह स्वयं आचरण शुभ्र धरे, तो उसे परमगति-रत्न मिले।। 22

जो शास्त्रविधि को छोड़ कर्म, मनमाने करते आये हैं।
वे सिद्धि, सुख और परम गति, को नहीं कभी मिल पाये हैं।। 23।।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।।24।।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभाग योगो नाम शोडषोऽध्याय: ।।16।।

❀❀❀

इस हेतु कर्म-अकर्म सभी, तू शास्त्र प्रमाण समझ लेना।
जो शास्त्र सदा कहते आये, तू जान उन्हें वैसा करना।। 24।।

।। सोलहवाँ अध्याय समाप्त।।

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ।। 1 ।।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु ।। 2 ।।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।। 3 ।।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।। 4 ।।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।। 5 ।।

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।। 6 ।।

आहारस्त्वऽपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं श्रृणु ।। 7 ।।

सत्रहवां अध्याय

(श्रद्धात्रय विभाग योग)

अर्जुन ने कहा

जो छोड़ शास्त्र की विधि और, केवल श्रद्धावश यजन करें।
हे कृष्ण ! सत्त्व, रज, तम, उनकी फिर, किस निष्ठा से गणन करें।। 1 ।।

श्री भगवान ने कहा

जन्म-जन्म के संस्कार की, श्रद्धा तीन प्रकार कही।
सुनो सात्त्विकी और राजसी, तामस का विस्तार यहीं।।2 ।।

यह श्रद्धामय ही पुरुष हुआ, इसलिए हैं सब श्रद्धा वाले।
जिनकी जिस भांति श्रद्धा हैं, वे उस अनुरूप हृदय वाले।। 3 ।।

सात्त्विक देवों का और राजस, राक्षस-यक्षों का यजन करें।
जो हुए तामसी, भूत-प्रेत का, वे मन से पूजन सदा करें।। 4 ।।

जो घोर तपों से तपे पुरुष, नहीं शास्त्र-विधि वे मान रहे।
मद-दम्भ-कामना से पूरित, वे बल और राग आधीन हुए।। 5 ।।

जो तन में स्थित भूतों को, और मुझको कष्ट दिया करते।
हम ऐसे मूढ़मति जन में, फिर आसुरी भाव धरा करते।। 6 ।।

हे पार्थ ! जो सबको सदा प्रिय, आहार के तीन प्रकार सुनो।
उस भांति ही तप, दान, यज्ञ, अब उनका तुम विस्तार सुनो।। 7 ।।

आयुःसप्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।।8।।

कटवम्ललवणात्युष्णातीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टाः दुःखशोकामयप्रदाः ।। 9।।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनम् तामसप्रियम्।। 10।।

अफलाकांभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ।। 11।।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।। 12।।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।। 13।।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।। 14।।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।। 15।।

बल, बुद्धि, आयु, सुख, प्रीति, जो आरोग्य हमें देते आये।
जो रसमय, चिकने, चिरस्थिर, सात्त्विक पुरुष उन्हें पाते आये।। 8

कटु, खट्टे और नमकीन, गरम, दाहक, तीक्ष्ण और रुक्ष प्रिय।
दु:ख-शोक-रोग देने वाले, वे राजसी को हैं नित्य प्रिय।। 9।।

अधपका हुआ भोजन बासी, रसहीन और कुछ सड़ा हुआ।
वे तामसी भोजन भोग रहे हैं, जूठन जो अपावन पड़ा हुआ।। 10।।

जो तज कर फल की आशाऐं, और शास्त्र-विधि कर्तव्य करें।
वे कर मन को फिर अतिशान्त, वे यज्ञ ही सात्त्विक सदा करें।।11।।

हे भरतश्रेष्ठ! फल की जिसमें, फिर बसी वासना जहां सदा।
है दम्भ हेतु जो किया हुआ, वह यज्ञ तामसी कहा सदा।। 12।।

जो अन्नदान, बिन विधि रहित, फिर बिना दक्षिणा यज्ञ हुआ।
जो श्रद्धा, मंत्र से हीन यज्ञ, उसको ही तामस कहा गया।। 13।।

गुरु, ज्ञानी, द्विज और देवों का, पूजन ही है तप कहा यहाँ।
नम्रता, शुचिता और अहिंसा, तप ब्रह्मचर्य को कहा यहां।। 14।।

जो सच्चे हितकर मधुर वचन, उद्वेग रहित जो कहे गए।
ईश भजन और शास्त्र पठन ही, वाणी के तप कहे गए।। 15।।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।। 16 ।।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ।। 17

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ।।18।।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।।19।।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम ।।20

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।21।।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।।22।।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।।23।।

मन की प्रसन्नता, शान्त भाव, भगवद् चिन्तन में रमी रही।
भावों की शुचिता ही मन की, वह सदा तपस्या कही गई।। 16

श्रद्धा सहित योगयुत होकर, और फल की वासना तजे सभी।
इन तीन तपों को जो करते, सात्त्विक तपसा वही कहीं।। 17।।

जो तप, पूजा, मान और सत्कार, दम्भ से हुआ कभी।
वह अनिश्चित और नश्वर, तप उसे राजसी कहें सभी।। 18।।

जो वाणी तन-मन पीर सहित, हठ से तप मूढ़ हुए करते।
जो करें किसी के नाश हेतु, फिर उसे तामसी तप कहते।।19।।

देश, काल और पात्र जान कर, दान अनुपकारी को दे।
वही सात्त्विक दान कहावे, जो दान सुपात्री ही फिर ले।।20।।

किए हुए उपकार के बदले दान क्लेश से दिया गया।
उसे राजसी दान कहा, जो फल-इच्छा से कभी दिया।। 21।।

देश-काल बिन पात्र विचारे, बिना मान के दिया गया।
उसको ही तामसी दान कहा, जो कर अवहेलना दिया गया।। 22

यह ओम् तत्-सत्-सच्चिदानंद, ब्रह्म का शुभ नाम है।
और वेद, ब्राह्मण, यज्ञ आदि, में ही रचना-काम है।। 23।।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।। 24 ।।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ।।25 ।।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।। 26 ।।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।। 27 ।।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।। 28 ।।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ।।17 ।।

❀ ❀ ❀

इसलिए तो ओम कह कर, यज्ञ, तप और दान सारे हो रहे।
ब्रह्मनिष्ठों के तो सारे कर्म ही, शास्त्र-विधि से ही सदा तो हो रहे।। 24

अब कल्याण भावना लिये हुए, तप दान यज्ञ सब किया करें।
तत् कहकर सब त्याग फलों को, कर्म विविध विध किया करें।। 25

सत् उनका ही नाम श्रेष्ठ, भावों में उनका लिया करो।
और उत्तम कर्मों में भी, फिर सत् उच्चारण ही किया करो।।26।।

यज्ञ, तप और दान स्थिति को भी तो सत् जान सखे।
प्रभु के लिए किये कर्मों को, सत् ही तू पहचान सखे।। 27।।

बिना श्रद्धा के किये हुए, तप दान हवन सब असत कहे।
इसलिए लोक-परलोक हेतु, नहीं लाभ मिले वे व्यर्थ गये।। 28।।

।। सत्रहवां अध्याय समाप्त।।

अथ अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृशीकेश पृथक्केशिनिषूदन ।।1।।

श्री भगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विंदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।। 2।।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ।। 3।।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्योगो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ।।4।।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।5।।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।।6।।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।।7।।

अठारहवाँ अध्याय

(मोक्ष सन्यास योग)

अर्जुन ने कहा

हे महाबाहो!अब अलग-अलग, सब त्याग-तत्व संन्यास कहो।
है मुझे जानने की इच्छा, हृषीकेश! वह सब ज्ञान कहो।। 1।।

श्री भागवन ने कहा

फल-आशा से किये कर्म का, त्याग सभी संन्यास कहें।
कर्म-फलों का त्याग सभी, यूं ज्ञानी जन विन्यास कहें।।2।।

सब कर्मों में दोष और, कुछ तजने योग्य विद्वान कहें।
नहीं इन्हें त्यागिए दान यज्ञ तप, ये देते हैं कुछ ज्ञान, कहें।।3।।

हे पार्थ! सुनो जो ठीक लगे, मेरा तुम यह विचार सखे।
हे पुरुष व्याघ्र ! यह कहा गया, यह त्याग है तीन प्रकार सखे।।4।।

यज्ञ दान तप कर्म सभी ये, कभी त्यागने योग्य नहीं।
ये सभी जनों को शुद्ध करें, और मन में संशय योग्य नहीं।। 5।।

यज्ञ दान तप आदि कर्म कर, और त्याग फलों का नित्य करें।
तज आसक्ति इन्हें करो, यह निश्चित है मत पार्थ ! खरे।। 6।।

अपने-अपने नियत कर्म सब, नहीं त्यागने योग्य कहें।
यदि मोहवश त्याग दिए, उस त्याग को तामस सभी कहें।। 7।।

दु:खमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।।8।।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।।9।।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।। 10 ।।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।। 11 ।।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणःफलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ।। 12 ।।

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।। 13 ।।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ।। 14 ।।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्यायं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ।। 15 ।।

ये नियत-कर्म सब दुःख रूप, यदि कष्टों के भय से त्यागे।
वह त्याग राजसी, नहीं मिले, फल यदि कर्मों से तू भागे।।8।।

शास्त्र -विहित ये कर्म मान, कर्तव्य फलों का त्याग करो।
आसक्ति रहित शुभ सात्त्विक है, उसका ही ऐसा त्याग कहो।।9।।

जो कुशल कर्म में लीन नहीं, और कुशल न देवें द्वेष कहीं।
वह संशय रहित है ज्ञानवान, और त्यागी सत्त्वनिष्ठ वही।।10।।

त्याग न सम्भव यहां कर्म का, फिर भी कोई यहां करें।
जो कर्मों के फल त्याग सके, उसे सच्चा त्यागी नाम धरें।।11।।

जो फल कर्मों का त्याग रहे, वे कर्म-फलों को नहीं मिलें।
जो कर्म कामना रहित करें, फल शुभ, अशुभ व मिश्रित उन्हें मिले।।12

सब कर्मों के होने हेतु ये, पाँच ही कारण कहे गए।
सुनो, सुनाता हूँ मैं तुमको, जो सिद्धांत सांख्य में दिए गए।।13।।

कर्म सिद्धि में हेतु कर्ता, अधिष्ठान और करण सुनो।
प्रयास विविध है और दैव, यहीं हेतु पांच प्रकार सुनो।।14।।

जो जन तन-मन-वचन से, अपने कर्म जगत में किया करें।
हो ठीक या हो विपरीत भलें, ये पाँच ही कारण दिया करें।।15।।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ।। 16 ।।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।। 17 ।।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति विविधः कर्मसंग्रहः ।। 18 ।।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ।। 19 ।।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।। 20

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।। 21 ।।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिंकार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पंच तत्तामसमुदाहृतम् ।। 22 ।।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।। 23 ।।

स्वयं ही कर्ता जो अपने को, मूढ़मति है मान रहा।
बुद्धि उसकी है शुद्ध नहीं, वह ठीक नहीं कुछ जान रहा।। 16

स्वयं को कर्ता जो नहीं माने, और जो जग में लिप्त नहीं।
वह मारकर भी नहीं मारे, और किसी बन्धन में पड़े नहीं।।17।।

ज्ञेय और ज्ञाता, ज्ञान कर्म के, यही प्रेरणा स्रोत कहे।
कर्ता, करण, क्रिया तीनों ही, कर्म-संग्रह के हेतु रहे।।18।।

कर्म, ज्ञान और कर्ता भेद से, तुम गुण के अनुसार सुनो।
कहे हैं जैसे सांख्य-शास्त्र में, वे सब तीन प्रकार सुनो।।19।।

सब भूतों में अविनाशी को, जो एक भाव से देख रहा।
वह अभिन्न दर्शन में उनको, सात्त्विक ज्ञान से देख रहा।।20।।

हर प्राणी में अलग-अलग, दर्शन का भाव जहां होवे।
ज्ञान राजसी उसे कहा है, जब पृथक-भाव उनमें बोवे।।21।।

जो एक कार्यरूप देह में, पूर्ण रूप आसक्त हुआ।
अर्थ -रहित और युक्तिहीन, उस भाव को तामस तुच्छ कहा।।22

शास्त्र-विहित जो कर्म करे, और फल की इच्छा नहीं करे।
राग-द्वेष से रहित पुरुष ही, सात्त्विक भाव से कर्म करे।।23।।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।।24।।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।।25।।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।।26

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।।27।।

अयुक्तःप्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।।28।।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं श्रृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ।।29।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।। 30

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।। 31।।

जो भोगों की करे कामना, हो जिनका अति श्रम अर्जुन।
कर्म राजसी उसे कहा जो, करे हैं फिर फल का अर्चन।।24।।

हानि, हिंसा और पौरुष का, जो सोचे बिन परिणाम सखे।
वही तामसी कर्म कहा है, जो करे अज्ञानवश कर्म सखे।।25।।

संग रहित उत्साह युक्त हो, और हर्ष शोक से दूर रहे।
जो कभी गर्व के बोल न बोले, सब सात्त्विक कर्ता उसे कहें।।26।।

हर्ष-विषाद और लोभयुक्त हो, जो विषयों में रमा रहा।
कर्म-फलों की करे कामना, फिर राजस कर्ता उसे कहा।।27।।

शिक्षा रहित जो अयुक्त, घमंडी, पर -धन-नाशक शोक करे।
उस धूर्त, आलसी, दीर्घसूत्री, तामस कर्ता फिर सदा कहें।।28।।

तीन भेद धृति और बुद्धि के, सुन धनंजय ! विस्तार करूँ।
और सभी विभागपूर्वक सुन, उन सब को गुण अनुसार कहूं।।29।।

जो कर्म-अकर्म, मोक्ष-बंधन, और प्रवृत्ति-निवृत्ति को जाने।
हे पार्थ ! सात्त्विक बुद्धि वह, जो भय और अभय सभी माने।।30।।

बुद्धि के द्वारा पार्थ ! नहीं यदि, धर्म-अधर्म भी जान रहो।
नहीं कर्म-अकर्म यथार्थ कहे, वही राजसी मति पहचान रहो।। 31

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।।32।।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।33।।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ।।34।।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ।।35।।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भारतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।।36।।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।।37।।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।।38।।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।।39।।

जो अधर्म को बुद्धि सदा ही, धर्म समझती आयी है।
हे अर्जुन ! गलत जो अर्थ करे, वह तामसी नित्य कहायी है।।32।।

मन जिस भी धारण-शक्ति से, और प्राण, इंद्रियाँ धार सके।
अनुशासित ध्यान योग से हो, फिर धृति सात्त्विक उसे कहो।।33।।

धर्म, अर्थ और काम को धारें, फल की कामना वाले ही।
कर लें आसक्ति से धारण, वे धृति राजसी वाले भी।।34।।

निद्रा, चिन्ता, भय और दुख को, कभी मतवाला नहीं तजे।
दुर्बुद्धि जिससे धारे वह, तामस धृति है वही पार्थ ! सखे।।35।।

तीन भेद सुख! के सुन ले, और कर उसका अभ्यास सदा।
सब दुख के हो अंत हे अर्जुन ! और उनमें सब बसें सदा।।36।।

जो अमृत होकर विष लगता, पर है जिसका परिणाम मधुर।
बुद्धि-प्रसाद प्रभु-संबंधी, सात्त्विक सुख है वह अति मधुर।।37।।

जो भोग-काल अमृत लगता, और विष तुल्य परिणाम हुआ।
उसे इंद्रिय-विषय-संयोग कहे, इसलिए राजस सुख नाम हुआ।।38।।

जो भोग काल में और अंत में, आत्मा की विस्मृति कहा गया।
निद्रा, आलस और वह प्रमाद से, फिर सुख तामस ही कहा गया।।39।।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ।। 40

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।।41।।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।42

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।।43।।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।।44।।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।45।।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।46।।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।47।।

पृथ्वी में, नभ में, देवों में, ऐसा नहीं कोई नाम मिला।
इन तीनों गुणों से मुक्त हुआ, ऐसा कहीं बिरला नहीं मिला ॥ 40 ॥

हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, सब कर्म उन्हें मैंने बांटे।
फिर कर्म-स्वभाव उत्पन्न, गुणानुसार, उन्होंने ही छांटे ।।41।।

शम, दम, क्षमा और तप, शुद्धि, फिर आस्थावान विज्ञान सभी।
द्विज-स्वभाव से गुण हों पैदा, सरल हों तन-मन ज्ञान सभी ।।42।।

शूरवीरता, तेज, चतुरता, और रण में डटना धर्म हुआ।
धैर्य, दान और स्वाभिमान, यह सभी क्षत्रिय कर्म हुआ ।।43।।

फिर खेती-पाती, धेनु-पालन, वैश्य सद व्यापार करे।
और शूद्र स्वभाव से ही अपने, फिर सब सेवा-व्यवहार करे ।।44।।

जो नियत-कर्म अपने-अपने, करते जीवन में रहें सदा।
इस तरह कर्म रत हुए पुरुष , फिर परम सिद्धि पा गए सदा ।।45।।

जिससे उत्पत्ति जीवों की, जिससे ही यह जग व्याप रहा।
जो निज कर्मों से करते पूजा, मैं नित्य उन्हें ही प्राप्त हुआ ।।46।।

गुणरहित भले ही धर्म हो अपना, पर-धर्मों से श्रेष्ठ ही कहलाया।
नहीं दोष नियत-कर्मों में कहीं, स्वाभाविक उनको बतलाया ।। 47 ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।। 48 ।।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।। 49 ।।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।। 50 ।।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्तवा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।। 51

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।। 52 ।।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। 53 ।।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेष मद्भक्तिं लभते पराम् ।। 54 ।।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।। 55 ।।

दोषयुक्त निज-नियत-कर्म हों, त्याग हे उनका उचित नहीं।
होय आग ज्यों मलिन धुँए से, कोई कर्म भी बचा नहीं।।48।।

जो आसक्ति छोड़ कामना, वश में अपना मन कर लें।
योग-सांख्य से वह पुरुष, सिद्धि और नैषकर्म्य को पावे।। 49।।

उस ज्ञान-योग की परानिष्ठा को, फिर परम सिद्धि को वह पावे।
कैसे होता है प्राप्त ब्रह्म, सुन, कुन्तीपुत्र! हम समझावें।।50।।

आत्म संयम कर, धीरज धारे, और शुद्ध मति में लीन रहे।
सभी शब्दादि विषय त्याग कर, फिर राग अरु द्वेष-विहीन रहे।। 51

एकान्त-ही सेवन, अल्प ही भोजन, तन मन वचन वशीभूत करे ले।
यहां ध्यान मगन होकर, तू बंदे, फिर वैराग्य का आश्रय यहां धरे।। 52

बल अहंकार और क्रोध काम, संग्रह से, गर्व से मुक्त हुए।
फिर ममता से रहित शांत नर, ब्रह्म-विहार हित उपयुक्त हुए।।53।।

जो ब्रह्म[illegible]र प्रमुदित मन, सब चिन्ता इच्छा से [illegible] हुआ।
साथ [illegible]व सभी में, फिर भक्ति में लवलीन हुआ।।54।।

मैं कौन हूँ कितना, भक्ति से, उसको भी सब यह ज्ञान रहे।
वह मुझमें सदा ही मिल जावे, उसे तत्त्व से यदि पहचान रहे।। 55

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम।।56।।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।। 57।।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।।58।।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।।59।।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।60

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।। 61।।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।। 62।।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।।63।।

वह कर्म भी करता रहे सदा, और मेरा आश्रय यहां धरे।
वह अव्यय और सनातन पद, मेरी ही कृपा से प्राप्त करें।।56।।

करे कर्म सब मुझे समर्पित, मन से मत्पर हुआ वह।
धरे वह मुझमें चित्त निरन्तर, सम बुद्धि तत्पर हुआ वह।।57।।

रखकर मुझमें चित्त, कृपा से, दुःख से वह तर जायेगा।
यदि नहीं सुने अभिमान-भरा, वह नाश ही केवल पायेगा।।58।।

मैं युद्ध करुंगा नहीं-यह, अभिमान पूर्वक कहो सखे।
सब व्यर्थ, प्रकृति कर निश्चय, वह स्वयं कराती यहां सखे।।59।।

जो नहीं चाहता कुछ करना, और मोह में वे तल्लीन हुए।
वे सब स्वभाव से स्वयं करें, फिर कर्मों के आधीन हुए।। 60।।

सभी प्राणियों के अंतर में, वह रहकर ही वहां वास करे।
सब जीव यंत्र की तरह घूम, तब माया में विश्वास करें।। 61।।

इस हेतु उसकी शरण हुआ, सब भांति चारों ओर सुनो।
शांति मिले और नित्य ही पद, फिर उसी कृपा की कोर सुनो।। 62

यह ज्ञान ही सारा अतिगुप्त, है यहां किया विस्तार सखे।
जिस भांति भी तू सोच सके, हे पार्थ ! ये पूर्ण विचार सखे।। 63

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।।64।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।65।।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।66।।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।।67।।

य इमं परमं गुह्यं मदभक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।।68।।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।।69।।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।।70।।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ।।71

सबसे अन्त में अतिगुप्त, हे कौन्तेय ! यह बात सुनो।
तू अति प्रिय है इसीलिए, मैं कहता हित की तात सुनो।। 64।।

मुझ में रख ले मन, पूजन कर, हे भक्त! मेरा वंदन कर ले।
तू एक दिन मुझमें मिले, सत्य, यह मन में आश्वासन धर ले।। 65।।

तू सब धर्मों को छोड़ , शरण में हे अर्जुन ! मेरी आ जा।
मैं सब पापों से मुक्त करूँ, तू चिन्ता त्याग शरण हो जा।। 66।।

जिनके मन में है भक्ति नहीं, जो सुनता ज्ञान नहीं सुनना चाहें।
उन निंदक को यह ज्ञान न दे, जिनमें तप-शक्ति नहीं होवें।। 67।।

है यह महान ही गुप्त ज्ञान, फिर जो भक्तों से कहे सही।
मिल जा मुझमें भक्ति पा कर, जिसमें संशय लवलेश नहीं।। 68

जो करे काम ऐसा जग में, उस जैसा मुझको प्रिय नहीं।
उससे प्यारा मुझको जग में, फिर कोई अधिक हुआ नहीं।। 69।।

यह मेरी और तुम्हारी चर्चा, यदि कोई धर्म की पढ़े कहीं।
यह प्रिय पूजा ज्ञान-यज्ञ की, यदि मुझे यह सुन पड़े कहीं।। 70।।

यदि बिन ढूंढे कोई दोष सुने, इसको कहीं श्रद्धावान सखे।
उसे लोक परम शुभ मिलें, और वह मुक्त हो पुण्यवान सखे।। 71

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ।। 72 ।।

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।। 73 ।।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रोषमद्भुतं रोमहर्षणम् ।। 74 ।।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ।। 75

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोःपुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।। 76 ।।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ।।77 ।।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।। 78 ।।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्नयासयोगो नाम अष्टोऽध्यायः ।।17 ।।

अब कहो हे अर्जुन ! क्या तुमने, यह सभी ध्यान से ज्ञान सुना।
क्या उस सबसे तू छूट गया, और नष्ट मोह-अज्ञान हुआ।।72।।

अर्जुन ने कहा

हे अच्युत ! अब कृपा आपकी, मोह मेरे सब नष्ट हुए।
सब संशय मिटे, सुधि आई, मैं वही करूँ जो आप कहें।।73।।

संजय ने कहा

रोमांच भरा यह इसी तरह, फिर रहस्य श्रेष्ठ सुन लिया सभी।
श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों का, जो सुना संवाद है अभी-अभी।।74।।

प्रगट योगेश्वर श्रीकृष्ण का, सब वर्णन तुमने सुना यहां।
ये श्रेष्ट योग के गूढ़ तत्त्व, अब व्यास-कृपा से सुने यहां।। 75।।

यह अर्जुन और श्री कृष्ण का, है पुण्यभरा संवादर निराला।
हर बार याद जब आयेगा, है यह हर्ष हमें देना काला।। 76।।

फिर वे पल आते याद अनोखे, जब रूप यहां विस्तार हुआ।
थे हम विस्मय से भरे हुए, और आनन्द बारम्बार हुआ।। 77।।

योगेश्वर श्रीकृष्ण जहां हो, औरव ीर धनुर्धरी अर्जुन।
श्री वैभव, विजय और नीति का, फिर सदा वहां ही अभिनंदन।।78

।। अठारहवां अध्याय समाप्त।।

आरती

जय भगवद्‌गीते, जय भगवद्‌गीते।
हरि-हिय-कमल-विहारिणि, सुन्दर सुपुनीते ॥ जय.

कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि, कामासक्तिहरा।
तत्त्वज्ञान-विकाशिनि, विद्या ब्रह्म परा ॥ जय.

निश्चल-भक्ति-विधायिनि, निर्मल, मलहारी।
शरण-रहस्य-प्रदायिनि, सब विधि सुखकारी ॥ जय.

राग-द्वेष-विदारिणि, कारिणी मोद सदा।
भव-भय-हारिणि, तारिणि, परमानन्दप्रदा ॥ जय.

आसुर-भाव-विनाशिनि, नाशिनि, तम-रजनी।
दैवी सुद्गुणदायिनि, हरि-रसिका सजनी ॥ जय.

समता-त्याग सिखावनि, हरि-मुखकी बानी।
सकल शास्त्र की स्वामिनि, श्रुतियों की रानी ॥ जय.

दया-सुधा बरसावनि मातु! कृपा कीजै।
हरिपद-प्रेम दान कर अपनो कर लीजै ॥ जय.

कवि-परिचय



जन्म :- मेरठ एक भूतपूर्व जमींदार एवं संभ्रांत त्यागी-ब्राह्मण परिवार में 21 फरवरी, 1943 को आपका जन्म हुआ।

शिक्षा :- सम्राट अशोक इंजीनियरिंग महाविद्यालय विदिशा (म.प्र.) से सिविल इंजी. में डिप्लोमा करने के पश्चात, शासकीय इंजीनियरिंग महाविद्यालय रायपुर (छ.ग.) से सिविल में बी.ई. तक शिक्षा।

कार्यक्षेत्र :- मेरठ, देहली, ग्वालियर, भिंड, मुरैना, रायपुर, दुर्ग, डोंगरगढ़ और राजनांदगांव, छत्तीसगढ़ में लगभग 40 वर्षों से शासकीय सेवा में इंजीनियर रहते हुए-रायपुर नगर को ही साधना-केंद्र बनाया।

विशेष :- बहुमुखी प्रतिभा के धनी, प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय कवि तथा साहित्यकार श्री अमरनाथ त्यागी एक उत्कृष्ट खिलाड़ी, एथलीट एवं कला पारखी होने के साथ-साथ एक चिंतक, साधक,पर्यावरणविद तथा समाजसेवी रहे हैं। आप जहां राष्ट्रीय विचारधारा के प्रखर देश-भक्त कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए, वहीं प्रेरणा-दायक वीर-रस पूर्ण काव्य एवं भक्ति-काव्य के उत्कृष्ट एवं समृद्ध कवि मनीषी के रूप में स्थापित हो चुके हैं। यद्यपि मूलरूप से आप कवि हैं, किन्तु गद्यकार के रूप में भी आपने अपनी अलग पहचान बनाई है।

हिन्दी साहित्य और समाज–सेवा में दीर्घकालीन उल्लेखनीय सेवाओं आदि के उपलक्ष्य में मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, उत्तरप्रदेश एवं राजस्थान की अनेक साहित्यिक एवं इंजीनियर–एसोसिएशन तथा खेल और सामाजिक संस्थाओं ने श्री त्यागी जी को सम्मानित कर उनका नागरिक अभिनंदन किया है।

वर्तमान में श्री त्यागी जी ब्राह्मण अंतर्राष्ट्रीय संस्थान, दिल्ली के राष्ट्रीय अध्यक्ष के रूप में सामाजिक परिवर्तन हेतु और समाज सुधार के कार्य के माध्यम से समाज में अंतर्राष्ट्रीय चेतना, विश्व बंधुत्व एवं कुरीतियों तथा रूढ़ियों के प्रति चेतना जाग्रत करते हुए राष्ट्रीय जागरण के कार्य में लगे हुए हैं।

आप छत्तीसगढ़ हिन्दी साहित्य मंडल के प्रांतीय अध्यक्ष के रूप में भी साहित्य–सेवा में कार्यरत हैं।

ग्रंथ-रचना :- प्रबंध काव्य–कृष्णचरित मानस और छत्तीसगढ़ की रामायण, पद्यानुवाद–श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, **खण्ड-काव्य**–महाराणा प्रताप, **काव्य-संकलन**–श्री गोविंद विलास, जहाँ चंदन महकते हैं, सहस्त्र सुमन–मन–उपवन के, राजा रतन सेन पद्मावत, रामसेतु एवं छत्तीसगढ़ की रामायण: एक विवेचन एवं धर्मरथ के अतिरिक्त अनेक ग्रंथ संकलन एवं संपादन ।

प्रो. देवी सिंह चौहान
मुख्य संरक्षक
छत्तीसगढ़ हिन्दी साहित्य मंडल
चौहान कुंज, पार्क रोड-1, चौबे कॉलोनी, रायपुर

कवि-परिचय



जन्म:- मेरठ के एक भूतपूर्व जमींदार एवं संभ्रांत त्यागी-ब्राह्मण परिवार में 21 फरवरी, 1943 को आपका जन्म हुआ।

शिक्षा:- सम्राट अशोक इंजीनियरिंग महाविद्यालय विदिशा से सिविल इंजी. में डिप्लोमा करने के पश्चात् शासकीय इंजीनियरिंग महाविद्यालय रायपुर में सिविल में बी. ई. तक शिक्षा।

कार्यक्षेत्र:- मेरठ, देहली, विदिशा, ग्वालियर, भिंड, मुरैना, रायपुर, दुर्ग, डोंगरगढ़, और राजनांदगांव, छत्तीसगढ़ में लगभग 40 वर्षों से शासकीय सेवा में इंजीनियर रहते हुए रायपुर नगर को ही साधना केंद्र बनाया।

विशेष :- बहुमुखी प्रतिभा के धनी, प्रसिद्ध और लोकप्रिय कवि एवं साहित्यकार श्री अमरनाथ त्यागी एक उत्कृष्ट खिलाड़ी, एथलीट एवं कला पारखी होने के साथ-साथ एक चिंतक, साधक, पर्यावरणविद् तथा समाज सेवी रहे हैं। आप राष्ट्रीय विचारधारा के प्रखर देशभक्त कवि के रूप में जहाँ प्रतिष्ठित हुए, वहीं प्रेरणादायक वीर-रस पूर्ण काव्य एवं भक्ति-काव्य के उत्कृष्ट एवं समृद्ध कवि मनीषी के रूप में भी स्थापित हो चुके हैं। यद्यपि मूलरूप से आप कवि हैं, किन्तु गद्यकार के रूप में भी आपने अपनी अलग पहचान बनाई है। हिन्दी साहित्य एवं समाज की दीर्घकालीन उल्लेखनीय सेवाओं आदि के उपलक्ष्य में मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश एवं राजस्थान आदि की अनेक साहित्यिक, अभियांत्रिक, सामाजिक तथा खेल एवं संस्कृतिक संस्थाओं ने श्री त्यागी को सम्मानित कर उनका नागरिक अभिनंदन किया है।

वर्तमान :- श्री त्यागी जी ब्राह्मण अंतर्राष्ट्रीय संस्थान, दिल्ली के राष्ट्रीय अध्यक्ष के रूप में सामाजिक परिवर्तन एवं समाज सुधार के कार्य के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय चेतना, विश्व बंधुत्व तथा कुरीतियों एवं रुढ़ियों के प्रति सजग करते हुए राष्ट्रीय जागरण के कार्य में लगे हुये हैं। सम्प्रति आप छ.ग. हिन्दी साहित्य मंडल के अध्यक्ष हैं।

ग्रंथ-रचना :- प्रबंध काव्य-कृष्ण चरित मानस, पद्यानुवाद-श्रीमद्भगवद् गीता, खंड काव्य-महाराणा प्रताप, काव्य संकलन-श्री गोविंद विलास, जहाँ चंदन महकते हैं, सहस्त्र सुमन-मन-उपवन के, राजा रतन सेन पद्मावत, रामसेतु, धर्मरथ, क्रांति, छत्तीसगढ़ की रामायण (गद्य एवं पद्य) आदि के अतिरिक्त अनेक ग्रंथ संकलन।

प्रो. देवी सिंह चौहान
अध्यक्ष
छत्तीसगढ़ हिन्दी साहित्य मंडल
चौहान कुंज, पार्क रोड-1 चौबे कॉलोनी, रायपुर